वर्ष २, अंक २ जुलाई १६८६

उन्मीलन

मानसिक हिन्द-स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक :
यशदेव शल्य

सहयोगी
गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण, राजेन्द्रप्रसाद पांडेय

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

लेखकों-पाठकों से क्षमा-याचना

उन्मीलन को सामग्री और मुद्रण दोनों दृष्टियों से क्रमशः उत्कृष्टतर बनाना, यह हमारा संकल्प था। किन्तु हमारे सारे प्रयत्नों के बावजूद इस अंक में बहुत से मुद्रण-दोष रह गए हैं। यह मुद्रक का सहयोग नहीं मिलने से हुआ। उसने हमारे तीन बार प्रूफ-संशोधन के बावजूद अशुद्धियां छोड़ दीं, कागज़ तक नये के साथ पुराना लगा दिया। भविष्य में ऐसा न हो, इसका पूरा ध्यान रखा जायगा। इस बार के इन दोषों के लिए हमें बहुत खेद है।

उन्मीलन : वर्ष २, अंक २
जुलाई १९८६

१

धार्मिक चेतना पर एक दार्शनिक दृष्टि–2

राजेन्द्रप्रसाद पांडेय

ट्रैक्टेटस में विट्गन्स्टाइन का यह कथन ध्यान देने योग्य है :

"हमें लगता है कि सभी संभव वैज्ञानिक प्रश्नों का उत्तर दिये जाने पर भी हमारी जीवन-संबंधी समस्याएँ बिल्कुल अछूती ही रह जायेंगी। निस्संदेह तब कोई प्रश्न शेष नहीं रह जाता–और बस यही उत्तर है। (६.५२)

"जीवन-संबंधी समस्या का समाधान इस समस्या के लोप हो जाने में दिखाई देता है। (क्या यही कारण नहीं कि वे मनुष्य, जिन्हें दीर्घकालीन संदेह के बाद जीवन का आशय स्पष्ट हुआ, कह नहीं सके कि वह आशय किसमें निहित है ?) (६.५२१)

"निस्सन्देह अनिर्वचनीय है। वह स्वयं को **प्रदर्शित** करता है, वह रहस्यमय है।" (६.५२२)

विट्गन्स्टाइन का उक्त कथन हमारे विवेच्य विषय के संदर्भ में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। धार्मिक चेतना के प्रकाश्य स्वरूप को यदि हम वैज्ञानिक मानसिकता की निर्वचनीयता से पृथक् मान लें तो विट्गन्स्टाइन के मतानुसार धार्मिक प्रकथन (वाक्य) किन्हीं प्रश्नों के उत्तर न होकर मानव-जीवन के उस गूढ़ आशय में ही संरचित होंगे जो किन्हीं भी प्रश्नों के पूर्व उपस्थित हैं। अवश्य वे प्रकथन अपनी प्रस्तुति में एक ऐसी सार्वकालिक आद्यता (देखिए, **ट्रैक्टेटस**, ६.५३११) प्रदर्शित करते हैं जो मानव-अस्तित्व की गहनतम समस्यात्मकता से सम्बन्धित है, और इसलिए उन प्रकथनों को किन्हीं देश-काल-बद्ध अनुभवों द्वारा उत्तरित हो सकने वाले प्रश्नों के उत्तर के रूप में नहीं देखा जा सकता। फलतः उन्हें किसी वस्तुनिष्ठ या वैज्ञानिक प्रविधि द्वारा सत्य या असत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता। उनके सम्बन्ध में अनिर्वचनीयता और रहस्यमयता का कारण यही है।

अपने प्रथम लेखांश में धार्मिक चेतना की जिस आद्य अतिक्राम्यता की चर्चा हमने की थी उसके प्रकाश में धार्मिक प्रकथनों में प्रदर्शित उक्त अनिर्वचनीयता और रहस्यमयता को समझा जा सकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात इस संबंध में यह है कि इस अनिर्वचनीय और रहस्मय के दार्शनिक प्रमाणीकरण की चेष्टा भी आरम्भ से ही भारत-मूल के धर्मों में हुई है। किन्तु इसका उल्लेख हम सबसे बाद में करेंगे। अभी हम यह देखेंगे कि धार्मिक प्रकथनों में प्रदर्शित अनिर्वचनीय और रहस्यमय का स्वरूप ठीक कैसे चेतना की अतिक्राम्यता में से उभरता और पनपता है।

जहाँ तक धार्मिक प्रकथनों का रूप किन्हीं व्याकृत भाषायी कथनों का है, स्पष्ट है कि

चेतना की अतिक्राम्यता उनके अर्थ-सार में प्रकट होकर उनके व्याकृत स्वरूप का अतिक्रमण करेगी—क्योंकि जैसाकि हमने अपने पूर्व लेखांश में कहा था, वह किसी भी प्रदत्त वस्तु-स्थिति का अतिक्रमण करती है। अब चूँकि इस तरह धार्मिक प्रकथनों का अर्थ-सार ही अति-क्रामी स्वरूप वाला होता है, स्वाभाविक है कि तत्त्वतः वे अनिर्वचनीय और रहस्यमय ही होंगे। यह भी देखना चाहिए कि धार्मिक प्रकथनों को अर्थयुक्त मान कर भी उन्हें वस्तुनिष्ठतः सत्य न मान सकने की कठिनाई वस्तुतः वैज्ञानिक विधि की कमज़ोरी या वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाबद्धता जैसी किसी अभावमूलता से न जुड़ कर स्वतः मानव-चेतना की आद्य भाववृत्ति—स्वरूप अति-क्राम्यता—से जुड़ी है। विट्गन्स्टाइन अपनी इस मूल मान्यता में सही है कि वैज्ञानिक ज्ञान और जीवन एक-दूसरे को बाधित नहीं करते; यद्यपि इस आधार से निकाले गये उसके कई निष्कर्ष या तो भ्रामक होने की सीमा तक अस्पष्ट हैं (जैसे कि वे उद्धरण जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है), या बिल्कुल गलत (जैसे उसका यह कथन कि कोई 'दार्शनिक कथन' अर्थयुक्त नहीं होते—**ट्रैक्टेटस**,४.११२)। वस्तुतः विट्गन्स्टाइन ने जीवन और चेतना में प्रकट समस्यात्मकता का अभाव-रूप ही देखा है, अर्थात् यह रूप कि सही वैज्ञानिक ज्ञान व विधि का अभाव ही किसी भी समस्यात्मकता की जड़ में है, उसका भाव-रूप नहीं। अन्यथा यह देख पाना अधिक कठिन नहीं कि जीवन और चेतना में प्रकट आद्य समस्यात्मकता किसी प्रकार का मोह या विवशता न पैदा कर उन्हें अधिक गतिशीलता, उत्फुल्लता और समृद्धि प्रदान करती है।

जीवन और चेतना की आद्य समस्यात्मकता का रूप चेतना की अतिक्राम्यता की विधा से बनता है—इस तरह कि इस अतिक्रामी वृत्ति के कारण मनुष्य सदैव जिज्ञासा की मुद्रा में होता है। जैसे उसका अस्तित्व अन्दर और बाहर से जिज्ञासा-विद्ध है, और जैसे उसकी जिज्ञासाएँ केवल नये समाधान के लिए ही उत्सुक न होकर नित नयी जिज्ञासाओं के आविष्कार में सन्नद्ध हैं। चेतना की अतिक्राम्यता संबंधी इस स्थिति की विवेचना हम अभी धार्मिक चेतना के संदर्भ में करेंगे। किंतु वहां हमारी विवेचना इस विशेष उद्देश्य से परिचालित होगी कि हम चेतना की उस विशिष्ट मूल अवस्था की विस्तार से चर्चा करें जिस पर धर्म की सारी इमारत खड़ी है और जिससे उसे अपना सारा वैभव मिलता है।

सबसे पहले इस सामान्य तथ्य पर ध्यान देना चाहिए कि हमारी चेतना की प्रस्तुति का स्वरूप सदैव आत्मचेतनात्मक नहीं होता। जब भी हमारी चेतना किसी अ-चेतन वस्तु-स्थिति की प्रकाशक होती है, जैसे जब हम कोई चित्र देखने में तल्लीन (तद्-लीनः) होते हैं, उस समय अभिव्यक्ति उस वस्तुस्थिति की ही होती है, हमारी आत्म-चेतना की नहीं। अवश्य उस समय भी चेतना में आत्म केन्द्रस्थता होती है, किन्तु चूँकि वह अचेतन वस्तु-स्थिति की संरचना में ही अन्तर्रचित होती है, सम्बधिन्त वस्तु-स्थिति से पृथक् उसकी अनुभूति नहीं हो पाती। चित्र को तल्लीन होकर देखने की क्रिया में इस तरह का ज्ञान नहीं होता कि 'मैं देख रहा हूँ' यद्यपि उस क्रिया के साथ-साथ कई आत्म-निर्देशक वृत्तियाँ सक्रिय रह सकती हैं—जैसे आनंद, ईर्षा आदि। दूसरे शब्दों में, चेतना की आत्मकेंद्रस्थता औरउसकी आत्म-चेतना एक ही नहीं हैं। वस्तुतः हमारे अस्तित्व के सभी क्षेत्रों—संज्ञानमूल, संवेगमूल और चेष्टामूल—में चेतना सामान्यतः आत्म-केंद्रस्थ तो अवश्य होती है किंतु आत्म-चेतन नहीं। हमारे दैनंदिन क्रिया-कलापों, सुख-दुख जैसी साधारण अनुभूतियों और अवलोकन—श्रवण जैसी सामान्य संज्ञान-क्रियाओं में चेतना का

केवल आत्म-केंद्रस्थ रूप ही प्रकट होता है, आत्म-चेतन स्वरूप नहीं। इस तरह की आत्म-केंद्रस्थ चेतना अव्याकृत और विकीर्ण चेतना है जिसमें आत्म-प्रस्तुति की ओर एक हल्का, अस्पष्ट-सा संकेत भर होता है, आत्म-स्वरूप का स्थायी और घनीभूत प्रकाश नहीं।

सामान्य मानव-जीवन के पोर-पोर में समायी चेतना की अव्याकृत और विकीर्ण स्थिति उसकी अतिक्रामी वृत्ति के लिए निद्रा की सी अवस्था है, किंतु तब जिस तरह निद्रा-वस्था में सपनों के दौर चलते हैं और मनुष्य वहाँ प्रकट घटना-रूपों के संदर्भ में द्रष्टा मात्र न रह कर उनका स्रष्टा बन जाता है, उसी तरह चेतना की अतिक्रामी वृत्ति की निद्रावस्था में भी सपनों के झटके लगते हैं जिससे चेतना अपने-आप को एक ऐसी सृजन-क्रिया के केन्द्र में पाती है जिसका आधार वह स्वयं है, किसी अन्य में निमज्जित-संरचित रूप नहीं। **बृहदारण्यक उपनिषद्** (४.३.७,१०) स्वप्नावस्था में चेतना की सर्जनात्मकता को इस तरह निरूपित करती है: 'वहाँ चेतना मृत्यु-रूपों (विषय-स्वरूप वस्तु-रूपों) का अतिक्रमण करती है। वह कर्त्ता है—जहाँ न रथ हैं, न घोड़े, न पथ वहाँ वह रथों, घोड़ों और पथों की रचना करती है; जहाँ न विषय-सुख है, न मानस-सुख, वहाँ वह विषय-सुखों और मानस-सुखों की सर्जना कर लेती है; जहाँ न गृह हैं न पुष्करणियाँ, वहाँ वह गृहों और पुष्करणियों का निर्माण करती है।' दूसरे शब्दों में, स्वप्न-चेतना में स्वयं-प्रेरित संकल्प और प्रतीकोन्मेषक कल्पना का गुण आ जाता है। आत्मकेन्द्रस्थ चेतना को मानो अपने अन्दर और बाहर एक स्वतन्त्र गति मिल जाती है, निद्रावस्था की अपनी स्वरूप-जड़ता और विषयों की जकड़न से जैसे उसे छुटकारा मिल जाता है। तथापि स्वप्न-चेतना की इस इच्छा-प्रेरित गति को जागृत चेतना के प्रकाश में ही ठीक-ठीक समझा और परखा जा सकता है, क्योंकि चेतना में आत्म-ज्ञापन की स्पष्टता और तर्क-विश्लेषण की सामर्थ्य उसकी जागृतावस्था में ही आ पाती है।

इस तरह चेतना की अतिक्रामी वृत्ति को एक ऐतिहासिक क्रम में विकसित होता हुआ देखा जा सकता है—निद्रा,स्वप्न, और जागृतावस्था के क्रम में। इस ऐतिहासिक क्रम में धर्म के अभ्युदय का काल स्वप्न-चेतना की सृजनशीलता का काल है। (द्रष्टव्यः दुर्खाइम, लीनहार्ट, लेवी ब्रूल, स्टेनर आदि जिन समाजशास्त्रियों ने आस्ट्रेलिया के मूलनिवासियों के धर्म का गहन अध्ययन किया है और उस धर्म में धर्म के मूल तत्त्वों को—अर्थात् पुराण-कथाओं (मिथ्स) और कर्मकांडों (रिचुअल्स) को—उनके शुद्धतम रूप में पाने का दावा किया है उनका कथन है कि धर्म और समूची धार्मिक संरचना को जिस शब्द से वे मूलनिवासी अभिहित करते हैं उसका शाब्दिक अर्थ 'स्वप्न' है।) दूसरी ओर, जागृत चेतना में प्रकट आत्म-ज्ञापन और तर्क-विश्लेषण से दर्शन और विज्ञान जैसी ज्ञान-केन्द्रित सूक्ष्म और जटिल संरचनाओं का निर्माण संभव होता है। स्वप्न-चेतना की अतिक्रामी सृजनशीलता और जागृत चेतना की अतिक्रामी ज्ञान-वृत्ति के बीच यह एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है कि जबकि प्रथम स्थिति में अंतरतिक्राम्यता और बहिरतिक्राम्यता (जिनकी चर्चा मैं अपने पूर्व लेखांश में कर चुका हूँ) इस तरह परस्पर गुँथे रहते हैं कि उन्हें ठीक-ठीक पृथक् कर पाना प्रायः असंभव होता है, द्वितीय स्थिति में ये अतिक्रामी वृत्ति के दो परस्पर विरोधी सिरों के रूप में प्रकट होते हैं—दर्शन में घनीभूत हुई अन्तरतिक्राम्यता और विज्ञान में घनीभूत हुई बहिरतिक्राम्यता। पुनः, यह भी द्रष्टव्य है कि स्वप्न-चेतना में उक्त दो अतिक्रामी वृत्तियों के बीच एक संतुलन होता है और वे परस्पर

पूरक तत्त्वों के रूप में सक्रिय होती हैं, और इसलिए इन दोनों की सक्रियता एक विशेष सीमा तक ही संभव है। इसके विपरीत, जागृत चेतना में उक्त अतिक्रामी वृत्तियों की स्वतंत्र और स्वच्छंद गतिशीलता से, उनके परस्पर संतुलित रह एक-दूसरे को परिसीमिति नहीं कर सकने के कारण, संदेह चेतना की एक प्रबल वृत्ति के रूप में जागता है। यदि इस संदेह-वृत्ति का उपयोग प्राविधिक हो तो वह तर्क-विश्लेषण में ही अंशभूत होकर मानव-ज्ञानान्वेषण में सहायक होती है। किंतु यदि वह स्वयं ही एक स्वेच्छा—वृत्ति का रूपधारण कर ले तो ज्ञानान्वेषण में सबसे अधिक बाधक भी साबित हो सकती है। किसी स्थिति में जागृत चेतना की संदेह-वृत्ति पुरानी संरचनाओं, मान्यताओं को अछूता नहीं छोड़ती। इसके प्रभाव में वे या तो बिल्कुल लुप्त हो सकते हैं या उनके आधार से एकदम अकल्पित संरचनाएँ, मान्यताएँ विकसित हो सकती हैं। संदेह-वृत्ति का ऐसा प्राविधिक प्रयोग ही उसे जिज्ञासा का रूप देता है।

प्रकट है कि स्वप्न-चेतना में संरचित धर्म भी जागृत चेतना में विकसित होने वाली उक्त जिज्ञासा के प्रभाव से बाहर नहीं रह सकता। वस्तुतः धर्मों में बाद में विकसित होने वाली मोक्ष, सुषुप्ति, योग आदि की धारणाओं के आधार में वह दार्शनिक चिन्तन होता है जो उक्त जिज्ञासा की उपज है। इसके प्रभाव में चेतना स्वयं अपने द्वारा संरचित प्राकृतिक, जैविक, मानसिक और बौद्धिक संरचनाओं को लांघते हुए आत्म-ज्ञापन-कारक आत्मा को धर्म के केन्द्र में स्थापित करती है। किंतु धर्म का यह स्वरूप बिना प्रकट दार्शनिक चिन्तन के संभव नहीं हो पाता। दूसरी ओर यह भी द्रष्टव्य है कि जागृत चेतना में बहिरतिक्रामी वृत्ति का एकांत अतिरेक विज्ञान को इस रूप में विकसित कर सकता है कि वह धर्म के घोर विरोध का रूप धारण कर ले।

भारतीय धर्मों में एक महत्त्वपूर्ण अंतर अज्ञान (अविद्या) और ज्ञान के बीच किया जाता है जो चेतना और अस्तित्व के तीनों पक्षों — संज्ञान, संवेग, और कर्म—में समानतः प्रयुक्त होता है। प्रकारांतर से यह अन्तर सभी धर्मों में मान्य है। अज्ञान निद्रित चेतना की अवस्था है जबकि ज्ञान जागृत चेतना की अवस्था। इन दो अवस्थाओं के बीच एक विशाल अवकाश चेतना की स्वप्नावस्था का है जिसके अन्तर्गत मनुष्य अपने लिए प्राकृतिक जगत् से अलग एक कल्पना व संस्कारमूलक जगत्‌की रचना करता है। यह वह जगत् है जहाँ संकल्प, कल्पना और कर्मानुष्ठान द्वारा नवीन मूल्यों, संभावनाओं और वास्तविकताओं का सृजन किया जाता है। **अंगुत्तर निकाय** (३.९९.१) में बुद्ध का एक महत्त्वपूर्ण कथन उद्धृत है: "भिक्षुओ! यदि कोई कहे कि जो जैसा करता है उसे वैसा ही भरना पड़ता है, तो उस स्थिति में धार्मिक जीवन (ब्रह्मचर्यवास) संभव नहीं, न ही दुःख का पूर्ण अन्त संभव है। किंतु कोई यदि ऐसा कहे कि मनुष्य को फल उसके कर्म के अनुसार मिलता है, तो उस स्थिति में धार्मिक जीवन भी है और दुःख का पूर्ण अंत भी।" कर्म की प्रथम स्थिति निद्रित चेतना की है जहाँ संकल्प की स्वतन्त्रता और कल्पना की सृजनशीलता के अभाव में कर्म और कफल पर प्रर्मा क्रतिक यांत्रिकता का घेरा पड़ा रहता है उस चक्र से मुक्ति का उपाय नहीं। कर्म की दूसरी स्थिति स्वप्न-चेतना की है जहाँ कर्म में स्वतन्त्र संकल्प का स्फुरणहै—यह कि कर्म-संस्कार द्वारा कर्मफल-संस्कार एक वांछनीय संभावना है—और मनुष्य एक ऐसे कर्मानुष्ठान (धार्मिक-सांस्कृतिक संरचना) की कल्पना में समर्थ है जिससे वह दुःख-चक्र

से छूट सके। प्रसंगवश द्रष्टव्य है कि बुद्ध के उपर्युक्त कथन के तात्पर्य में इसकी ओर संकेत है कि कर्म-विपाक में संवेग-तत्त्व (दुःख) अंशभूत है, जिसमें धार्मिक जीवन की प्रस्तुति के साथ-साथ रूपांतरण घटित होता है और जो कर्म में होने वाले रूपांतरण के ठीक समानुपातिक है। कर्म और संवेग-तत्त्व में समानुपातिक रूपांतरण के साथ सज्ञान-तत्त्व में भी ठीक उसी अनुपात में रूपांतरण घटत होता है—अज्ञान के अंधकार (जिसे मध्ययुगीन ईसाई रहस्यवादियों ने "इन्द्रियों की रात्रि" कहा) से निकल कर चेतना संबोधि (ज्ञान) के उजाले की ओर गति करती है। कर्म, संवेग और संज्ञान के अस्तित्त्व-क्षेत्रों में इस प्रकार होने वाले रूपांतरण की शुरुआत स्वप्न-चेतना में होती है और यह रूपांतरण जागृत चेतना की अवस्था में पुष्ट और प्रामाणिक बन सकने योग्य होता है। स्वप्न-चेतना में घटित होने वाले इस रूपांतरण और जागृत चेतना में उसे मिलने वाले रूप के बीच एक महत्त्वपूर्ण भेद का उल्लेख यहाँ आवश्यक है—यह कि प्रथम स्थिति में उसमें अभिव्यक्त ऐतिहासिक क्रम को द्वितीय स्थिति में यथावत् बनाये नहीं रखा जा सकता। ऐतिहासिक क्रम में रूपांतरण की दिशा अंधकार से प्रकाश, मृत्यु से अमृत और असत्य से सत्य की ओर होती है; किंतु जब यह क्रम टूटता है तब हम उसे इस रूप में पाते हैं—संसार और निर्वाण एक ही हैं, उनके बीच केवल दृष्टि-भेद है, तात्त्विक भेद नहीं (नागार्जुन); अज्ञान (अविद्या) और ज्ञान (विद्या) दोनों ही अंधकारमूलक हैं यदि उनके बीच सम्यक् संतुलन का अभाव हो (ईशावास्योपनिषद्); ब्रह्मोपलब्धि का आनन्द ही निद्रावस्था और स्वप्नावस्था की सुखानुभूति में अनुस्यूत है (**बृहदारण्यक, तैत्तिरीयोपनिषद्**) इत्यादि। कहने की आवश्यकता नहीं कि चेतना के विकास का ऐतिहासिक क्रम उसमें दार्शनिक-दृष्टि के सबल होने पर ही टूट पाता है।

अब हमें इस पर ध्यान देना चाहिए कि स्वप्न-चेतना में आविर्भूत धर्म का रूप, उसकी संरचना, क्या है? सभी धर्म इसे एक पूर्वमान्य सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं कि धर्म श्रद्धा में प्रतिष्ठित है। 'श्रद्धा' का ठीक अर्थ क्या है यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है। किंतु यह प्रायः सभी को स्वीकाय है कि उसमें प्रकाशता, विश्वास, ग्राह्यता, और भावोद्रेकता के तत्त्व हैं। **ऋग्वेद** (१०.१५१)में एक श्रद्धा-सूक्त है जिसकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं: इस सूक्त की देवता और द्रष्टा-ऋषि श्रद्धा है जो काम-कुलोत्पन्ना (कामायनी) है। बीज-रूप 'काम' निद्रावस्थित चेतना की प्रकृति-संश्लिष्ट वृत्ति का नाम है। इसका लक्षण नवीन सृजन न होकर पुरातन का पुनर्पुनः प्रत्यावर्त्तन है। **ऋग्वेद** (१०.१२९) के सृष्टि-सूक्त में काम को सृष्टि का प्रथम उत्पन्न तत्त्व कहा गया है। वह सृष्टि का बीज-स्वरूप है, वह ऋत की क्रिया-शक्ति है, अभी उसे कर्म का स्वरूप नहीं मिल पाया है क्योंकि चेतना अभी अव्याकृत और विकीर्ण है। इसमें विश्व-व्यापी नियामकता तो है किंतु स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति या संकल्प नहीं। चेतना की गत्यात्मक आत्म-केन्द्रस्थता का इसमें अभाव है, क्योंकि इसके क्रिया-व्यापार का रूप 'मनन' का न होकर 'व्यसन' (वासना) का है जो केवल बाह्यापेक्षा में जीता है। इसलिए यहाँ स्वतः चेतना का 'भाव' वस्तुतः 'अभाव'-वत् है (**ऋग्वेद**, १०.१२९.५)। चेतना की ऐसी 'अभाव'-वत्ता ही उसे अचेतन प्रकृति से एकाकार कर 'अंध–तमस्' के क्षेत्र में ले जाती है। चेतना की इस अंधकारमय स्थिति को बौद्ध 'तृष्णा' और उपनिषद् 'अशना-पिपासा' कहते हैं—छांदोग्य उपनिषद् (६.८.३–६) में इसे शुंगवत्,अंकुर के रूप वाला, कहा गया है जो

पुरातन के पुनर्पुनः प्रत्यावर्तन, अर्थात् उत्पत्ति-अवसान के चक्र, का आश्रय-स्वरूप है। सभी जीवों में चेतना का यह निद्रावस्थित रूप विद्यमान है, किंतु केवल मनुष्य में इससे आगे चेतना की स्वप्नावस्था और जागृतावस्था की संभावना भी पायी जाती है ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.१२.३.२) में श्रद्धा को ऋत की प्रथम संतति कहा गया है । अतः श्रद्धा ऋत की क्रिया-शक्तिभूत काम की प्रथम संतति, और इसलिए कामायनी, हुई। **ऋग्वेद** के उक्त श्रद्धा-सूक्त के अनुसार श्रद्धा हृदय की भाव-मूर्ति के रूप में उपलब्ध होती है(हृदय्य याकूत्या) । पुनः धार्मिक कर्म (यज्ञ, दान, स्तुति आदि) के सुफल का आधार श्रद्धा है । इसलिए मानव-प्रेयस् का आधार भी श्रद्धा है—यहाँ तक कि देवगण भी जीवन के मूल-स्रोत, अर्थात् सुख (असुर=असु (जीवन) में रमण) में श्रद्धा रखते हैं। श्रद्धा ही हमें श्रद्धा में स्थापितकरने वाला तत्त्व भी है (श्रद्धे श्रद्धापयेह नः) । **वाजसनेयी संहिता** (१९-३०) में श्रद्धा को सत्य (श्रत्) का धारक (धा) कहा गया है (श्रद्धया सत्यमाप्यते) । श्रद्धा-संबंधित इस महत्त्वपूर्ण कथन को वैदिक साहित्य के प्राचीन-अर्वाचीन टीकाकारों ने बार-बार दुहराया है। स्वयं वैदिकसाहित्य में ही इसकी संपुष्टि **छांदोग्योपनिषद्** (७१६-१९) में इस तरह हुई है : "सत् ही जानने योग्य है, क्योंकि वही वास्तविक 'विज्ञान' है ;किंतु वास्तविक 'विज्ञान' बिना 'मनन' के संभव नहीं और 'मनन' के लिए 'श्रद्धा' आवश्यक है।" द्रष्टव्य है कि सत् को धारण करने वाली श्रद्धा-रूपी चेतना उससे अभिन्नता की हद तक संश्लिष्ट है, किंतु साथ ही अपनी ग्रहणात्मक वृत्ति में वह उससे भिन्न भी है। सत् को धारण करने से श्रद्धा का स्वरूप प्रकाशवत् 'ज्ञान' का है और वह सत्-स्वरूप ही है, किंतु ज्ञान की वह विधा मनोगत (मनन की) है और इसलिए उसकी अपनी विशिष्टता आत्म-केन्द्रस्थता की है जो सत् के 'तद्-केंद्र' भाव से श्रद्धा की पृथक्ता का सूचक है। इस तरह सत् और श्रद्धा के बीच एक सामीप्य भी है, एक दूरी भी; एक सामंजस्य भी है, एक तनाव भी; वे परस्पर निर्बंध हैं और बँधे हुए भी। यह स्वप्न-चेतना की विचित्र स्थिति है जिसमें सर्जना का स्फुरन चेतना को प्रदत्त वस्तु-रूपों के बन्धन से निकालता है और पुनः उसे नये बिम्बों में आबद्ध कर देता है। चेतना के दो सिरे—अंतरतिक्राम्यता और बहिरतिक्राम्यता—विपरीत दिशाओं में तेज़ी से फैलते हैं और पुनः उसी तेज़ी से सिमट कर आपस में मिलते हैं। यह मिलन स्वप्न-चेतना की आत्म-केन्द्रस्थता में आत्मोपलब्धि का अवसर होता है जिसमें संकल्प के रूप में आत्म-स्वातन्त्र्य और कल्पना के रूप में सृष्टि-स्वातन्त्र्य परस्पर में संतुलित होते हैं। इस संतुलन से स्वप्न-बिंबों को एक निश्चित और स्थायी रूप मिलता है, एक नया व्यवस्था-क्रम, बिंब-विधान, मिलता है। यह नया बिंब-विधान ही धार्मिक पुराण-कथाओं (मिथ्स) का आधार है, और प्रत्येक धर्म का आरम्भ इन्हीं पुराण-कथाओं से होता है। धर्म के इस आरंभ-बिंदु पर संज्ञान और संवेग के तत्त्व परस्पर संतुलित होते हैं। इसीलिए श्रद्धा में जहाँ एक ओर सत्य की ग्रहणशीलता पायी जाती है, जो उपर्युक्त बिंब-विधान से धर्म में 'विश्वास' के रूप में अभिव्यक्त है, वहाँ दूसरी ओर उसी श्रद्धा में सत्यानुभूति का भावोल्लास भी मिलता है। पुराण-कथाओं में संज्ञान और संवेग का यह सामंजस्य उन चरित्रों (कथा-पात्रों की चेष्टाओं) में प्रकाश पाता है जो श्रद्धालु जनों के लिए जीवन और जगत् का आदर्श रूप प्रस्तुत करते हैं। **ऋग्वेद** के श्रद्धा-सूक्त में उल्लेखित इस उक्ति का, कि 'श्रद्धा ही हमें श्रद्धा में स्थापित करती है', अर्थ शायद यही है।

किंतु ध्यातव्य है कि स्वप्न-बिंबों को कल्पना और संकल्प द्वारा जो बिंब-विधान मिलता है वह सदैव धर्म या धार्मिक विश्वास का ही रूप धारण करे यह आवश्यक नहीं है। एक औपनिषदिक आख्यान के अनुसार विरोचन ने आत्मकेन्द्रस्थता का अर्थ देह-केन्द्रस्थता लिया और तदनुकूल ही अपने लिए आत्मा की उपलब्धि की। दूसरे शब्दों में, श्रद्धा अपने-आप को सदैव धार्मिक श्रद्धा के रूप में प्रकट नहीं करती। **भगवद्गीता** (१७.३) का कथन है : मनुष्य श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसका स्वरूप तदनुकूल ही होता है। श्रद्धा मूलतः मानव-चेतना की आत्मोपलब्धि का भाव है, अर्थात् यह भाव कि वह स्वतः-स्फूर्त ऊर्जा-केन्द्र है और इसलिए अपने अस्तित्व के नियामक तत्त्वों पर किसी हद तक नियंत्रण और रूपांतरण में सक्षम है। जैसा-कि हमने पहले कहा था, स्वप्न-पूर्व निद्रावस्था में भी चेतना का यह ऊर्जा-केन्द्र :कामः प्रकृति से संश्लिष्ट होकर सक्रिय रहता है, किंतु चूंकि तब उसमें आत्मोपलब्धि नहीं होती और उसमें आत्म-स्वातन्त्र्य और सृष्टि-स्वातन्त्र्य के भाव नहीं मिलते इसलिए वहाँ सत्य का ग्रहण नहीं होता, किंतु असत्य का भी ग्रहण नहीं होता, चेतना में सत् और असत् के भेद से पूर्व की अवस्था है यह। दूसरी ओर, स्वप्न-चेतना में श्रद्धा के आवेश से आत्मोपलब्धि का अवसर उपस्थित होता है, किंतु तब बिल्कुल संभव है कि उसकी कल्पनामूलसर्जनशीलता किन्हीं नए बिंबों का विधान कर प्रदत्त वस्तु-रूपों में ही मनोनुकूल (अर्थात् कामानुकूल) चयनात्मक विधान (अपने लिए अधिकाधिक सुख-सामग्री या विषयों की व्यवस्था) से संतुष्ट हो ले। यहाँ भी श्रद्धा ग्रहणात्मक है, किंतु यहाँ वह धर्म-दृष्टि से असत् का ग्रहण करती है। जैसाकि कहा गया है, अश्रद्धा से अनृत का ग्रहण होता है। श्रद्धा के संदर्भ में अश्रद्धा-रूपी इस संभावना के कारण ही प्रत्येक धर्म पुण्य और पाप के बीच भेद को बड़ा महत्त्व देता है, क्योंकि यह धार्मिक चेतना के आद्याधार 'श्रद्धा' से सम्बन्धित है। विरोचन की श्रद्धा वस्तुतः इस प्रकार की अश्रद्धा है—उसने प्रदत्त शरीर-रूप को ही आत्मस्वरूप समझ लिया। इसमें विधान अवश्य है, किंतु किसी नए बिंब का सर्जन नहीं। इसमें संकल्प भी है, किंतु कल्पनामूल सृष्टि-स्वातंत्र्य नहीं। श्रद्धा की यह अश्रद्धा-वृत्ति अव्याकृत काम की अनुगामिनी है—यह विषय-संयोग से अनुभूत सुख और सुखोपभोग में बाधा से क्रोध के कारण मनन-वृत्ति में क्षय से पुनः अव्याकृत-निद्रित चेतना के अंध कूप में डूब सकती है। इस तरह की श्रद्धा में आत्मोपलब्धि में एक विकार पाया जाता है जिसे 'अहंकार' कहा गया है।यह वस्तुतः जगत् में लीन चेतना है, आत्म-चेतना नहीं जिसमें आत्म-स्वातंत्र्य की घोषणा है।

धर्म के लिए नए बिंबों का सृजन चतना के ऊर्जा-केन्द्र 'काम' के पुनस्संस्कार से संभव होता है। इस पुनस्संस्कार से, जो स्वप्न-चेतना की उपलब्धि है, चेतना की आत्म-केन्द्रस्थता प्रदत्त वस्तु-रूपों से मुक्त होकर अपनी गहराई में स्वतंत्र इच्छा-शक्ति (संकल्प) के रूप में अभिव्यक्त होती है और अपने विस्तार में स्वतंत्र सृजन-शक्ति (कल्पना) के रूप में सामने आती है। स्वतंत्र इच्छा-शक्ति या संकल्प ही स्वप्न-चेतना की अंतरतिक्रामी वृत्ति का प्रकाश है जबकि स्वतंत्र सृजन-शक्ति उसकी बहिरतिक्रामी वृत्ति की सक्रियता है। इस अंतरतिक्रामी वृत्ति से चेतना 'इन्द्रियों की रात्रि' से बाहर निकलती है और बहिरतिक्रामी-वृत्ति से प्रदत्त वस्तुओं के विषय-रूप को लाँघती है। इन दोनों ही स्थितियों में चेतना, जोकि गत्यात्मक है, उसमें एक मननात्मक दिशा-बोध रहता है। यह श्रद्धा में संरचित बुद्धि का रूप है जिसमें अभी तर्क का प्रकाश नहीं, जैसाकि जागृत चेतना की अवस्था में पाया जाता है। अभी यह स्वप्न-

बुद्धि है जिसका वैदिक नाम 'इड़ा' है, जो कल्पना-बिंबों को संकल्प से एक संरचना में सूत्र-बद्ध कर 'दिव्यता' के भाव को प्रकाश में लाती है। श्रद्धा द्वारा काम के पुनस्संस्कार की प्रक्रिया में 'दिव्यता' के भाव का इस तरह उदय ही प्रत्येक धर्म के अन्तर्गत मनुष्य के द्वितीय जन्म (दीक्षा) की धारणा के आधार में है। मनुष्य के प्राकृतिक जन्म का आधार और परिवेश निद्रावस्था की चेतना का प्रकृति-निमज्जित 'काम' है जबकि धर्म-चेतना में मनुष्य के जागरण (जन्म) का आधार स्वप्न-चेतना के अंतर्गत उक्त काम की प्रकृति की यांत्रिकता के बाहर एक स्वतंत्र ऊर्जा-केन्द्र के रूप में स्थापना वस्तुतः मनुष्य के अस्तित्व और जगत् बोध में मूलभूत परिवर्त्तनों की सूचना है—जो इसीलिए मनुष्य के लिए एक नये जन्म का महत्त्व रखता है। स्वयं मानव-अस्तित्व में यह आत्मोपलब्धि का अवसर है, जबकि प्रदत्त वस्तुओं के विषय-रूपों में यह प्रेयस् के आविर्भाव का काल है। प्रदत्त रूपों में 'प्रेयस्' की अर्थ रचना के लिए स्वतंत्र इच्छाशक्ति और काल्पनिक बिंबों का सृजन आवश्यक है। विषय-रूप इंद्रिय-जन्य हैं, और जैसाकि **कठोपनिषद्** (२.१.१) में कहा है, इंद्रियाँ आत्म-विमुख होकर केवल बहिर्जगत् में गतिशील होती हैं, इसलिए वहां आत्मोपलब्धि या स्वतंत्रता के अभाव में वस्तु-रूपों की प्राकृतिक संरचना ही प्रदत्त है अर्थ-संरचना नहीं। दूसरी ओर, वस्तु-रूपों को 'प्रेयस्' रूप तभी मिल पाता है जब उनकी उपलब्धि में जीवन के ऐसे उद्देश्यों की पूर्ति संभव हो जिनमें 'श्वोभाव' =क्षणिकता देखें, **कठोपनिषद** १.१.२६) नहीं है, वरन् जो एक दीर्घकालीन मूल्य-बोध को व्यक्त करते हैं, यद्यपि चिरकालीन मूल्य-बोध को नहीं जो 'श्रेयस्' का लक्षण है। वैदिक ऋषियों की इड़ा-स्तुतियों में वस्तु-रूपों का यही दीर्घकालिक मूल्य-बोध 'प्रेयस्' के रूप में व्यक्त हुआ है और, जैसा कि हमने पहले कहा था, **ऋग्वेद** के श्र ा-सूक्त में यह 'प्रेयस्' श्रद्धा में संरचित है।

किंतु वस्तु-रूपों में प्रेयस् की अर्थ-रचना कैसे होती है? हम कह आये हैं कि अंतरतिक्रामी-वृत्ति प्रदत्त वस्तु-रूपों से चेतना को स्वतंत्र कर उसे अपनी आत्मकेंद्रस्थता में स्थापित करती है। चेतना की इस तरह हुई आत्मोपलब्धि से बहिरतिक्रामी वृत्ति की सक्रियता संभव हो पाती है जो प्रदत्त वस्तु-रूपों से अलग बिंबों या प्रतीक-अर्थों की रचना करती है। इस रचना के अंतर्गत न केवल एकदम नये बिंबों की रचना होती है वरन् प्रदत्त वस्तु-रूपों को भी नये प्रतीक-अर्थ दिये जाते हैं—जैसे मनुष्य को पिता, पुत्र जैसी अभिधाएँ मिलती हैं (सामाजिक संरचना के मूल में बहिरतिक्रामी-वृत्ति द्वारा मनुष्य को दिये गए इन प्रतीक-अर्थों का ही हाथ है), और मानवेतर प्राणियों, वृक्षादि वस्तुओं को मानव-जीवन-शैली से जुड़े हुए अर्थ दिये जाते हैं। चेतना की बहिरतिक्राम्यता में कल्पित ये प्रतीक-अर्थ या बिंब प्रदत्त वस्तु-रूपों की अपेक्षा अधिक स्थायी, सुरक्षित, और मानव-चेतना की स्वतंत्रता के उद्घोष के रूप में अधिक प्रभावोत्पादक होते हैं। अतः चेतना की अतिक्राम्यता में पुनस्संस्कारित 'काम' की भाव-बद्धता के लिए वे सहज आलंबन बन जाते हैं—'सहज' इसलिए क्योंकि पुनस्संस्कारित काम में जिस आत्म-स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति है वही बहिरतिक्रामी कल्पना की स्वतंत्र बिंब-रचना में अभिव्यक्त है, और उनके बीच इस संरचनात्मक एकता को स्वयं चेतना 'मनन' के रूप में व्यक्त करती है। (द्रष्टव्य है कि स्वप्न-चेतना में 'मनन' का रूप सक्रिय चिंतन का न होकर बोधात्मक अवगमन का होता है) पुनस्संस्कारित काम से भावबद्धता की स्थिति में ये स्वप्न-बिंब उन प्रदत्त वस्तु-रूपों में प्रेयस् का भाव उत्पन्न करते हैं जिनके वे प्रतीक-अर्थ हैं। प्रेयस् के सन्दर्भ में भाव-बद्धता ही

अपने अतिरेक में धार्मिक भाव-विह्वलता (एक्स्टेसी) का रूप धारण करती है। स्पष्ट है कि बिना प्रेयस् की इस तरह की स्थापना के मानव-चेतना की आत्मोपलब्धि में व्यक्त स्वतन्त्रता का भाव स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि जैसाकि हमने पहले भी कहा है, बहिरतिक्राम्यता से संतुलन न होने की स्थिति में अन्तरतिक्राम्यता द्वारा उपलब्ध आत्मकेन्द्रस्थता अहंकार में परिणत होकर पुनः निद्रित चेतना की अवस्था में पहुँच सकती है। चूँकि चेतना में आद्यतः अनुस्यूत काम को सदैव एक रूप-आलंबन की आवश्यकता होती है, यदि उसे नये प्रतीक-अर्थों या बिंबों का आश्रय न मिले तो वह प्रदत्त वस्तुओं के विषय-रूप की ओर लौटता है। प्रस्तुत संदर्भ में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि जब नये प्रतीक-अर्थ या बिंब काम के आलंबन बनते हैं तो इसकी एक जबरदस्त संभावना होती है कि ये बिम्ब या प्रतीक-अर्थ कालान्तर में प्रदत्त बिंब बन जायें—वस्तुतः प्रायः ही ऐसा होता है, और ऐसा होना ही संस्कारों की ऐतिहासिकता तथा सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों-परम्पराओं के आधार में है। इनकी प्रदत्तता भी वस्तु-रूपों की प्रदत्तता की तरह इतनी ठोस और वास्तविक होती है कि इनका अतिक्रमण केवल जागृत चेतना की तार्किक-विलेषणात्मक बुद्धि के सहारे ही किया जा सकता है। (द्रष्टव्यः प्रदत्त वस्तु-रूपों की अभेद्यता भी जागृत चेतना में इसी बुद्धि के सहारे टूटती है; विज्ञान का महत्त्व एक चेतना-क्रिया के रूप में यही है।)

अब हमें धर्म के संदर्भ में जागृत चेतना की विशिष्ट सक्रियता के योगदान पर विचार करना चाहिए। स्वप्न-चेतना के संदर्भ में हमने देखा था कि वहां धार्मिक बिंबों को 'दिव्यता' ('दिव' धातु से, जिसका अर्थ प्रकाश है, जो 'देव', 'देवता' आदि शब्दों के मूल में है) मानव-अस्तित्व और चेतना में अभिव्यक्त स्वतन्त्रता से मिलती है। यह बिंबों को प्रदत्त वस्तु-रूपों से स्वतन्त्र अवश्य करती है किन्तु मानव-अस्तित्व से स्वतन्त्र नहीं कर पाती, यद्यपि वे मनुष्य के श्रद्धाभाव में इड़ा द्वारा स्तुत्य होने के कारण मानव-अस्तित्त्व से परे जान पड़ते हैं। स्वप्नावस्था की धर्म-चेतना में यह विरोधाभासात्मक-सी स्थिति है जो जागृत चेतना की तर्क-बुद्धि में बिल्कुल स्पष्ट होकर उभरती है। जागृत चेतना की तर्क-बुद्धि इस विरोधाभास से दो स्तरों पर निपटती है और इसके दूरगामी परिणाम धर्मों के क्षेत्र में देखने को मिलते हैं। उक्त विरोधाभास को दूर करने का एक सरल उपाय है, धार्मिक बिंबों को शुद्ध प्रतीक मान कर उन्हें मानव-अस्तित्व से बिल्कुल अलग सत्ता मान लिया जाय। यहूदी-मूल के धर्मों में कमोबेश यही हुआ है। इस्लाम-धर्म में इस प्रवृत्ति की चरम परिणति देखने को मिलती है जहाँ धर्म का सर्वोच्च बिंब 'ईश्वर' एक शुद्ध प्रतीक है और सब प्रकार से मानव-अस्तित्व और चेतना से परे है। वह ऐसा गुप्त और रहस्यमय सर्वोच्च 'तत्त्व' है जिसके बारे में हमें केवल उतना ही मालूम है जितना कि उसने अपने दूत के द्वारा हमें बताया है। हमारा उससे कोई भी सीधा सम्बन्ध असंभव है और इसलिए उसके बारे में और भी कुछ अधिक जान सकना एक धार्मिक असंभावना है। ईसाई धर्म में 'ईश्वर' की रहस्यमयता ज़रा कम है, क्योंकि उसने स्वयं अपने 'पुत्र' को मानव-अस्तित्व का रूप दिया है और इसलिए हम अपने अस्तित्व में उससे परोक्षतः जुड़ जाते हैं। यह योग 'प्रेम' का योग है, जबकि इस्लाम में मनुष्य ईश्वर से मूलतः 'भय' वश जुड़ता है, क्योंकि वह कठोर न्यायाधीश है और उसके न्याय के विधि-विधान भी उतने ही कठोर हैं। दूसरी ओर, भारत-मूल के धर्मों में उक्त विरोधाभास को बिल्कुल दूसरे प्रकार से दूर करने की

चेष्टा की गई है। यहां जागृत चेतना की अतिक्रामी वृत्ति के सहारे मानव-अस्तित्व और चेतना को परात्मकता की उस सीमा तक उठाया गया है जहां वह ईश्वर की परात्मकता से एकाकार हो जाता है। उपनिषदों में इसे 'भूमा' की स्थिति कहा गया है। स्वप्नावस्था में मानव-अस्तित्व और चेतना स्वतंत्र तो हैं, किंतु 'अल्प' हैं, क्योंकि उनसे सम्बन्धित बिंबों के आधार में अभी भी वस्तु-रूप विद्यमान हैं। ये बिंब अभी शुद्ध बिंब नहीं बन पाये हैं, क्योंकि अभी इन्हें चिरकालिक मूल्यों की अर्थवत्ता नहीं मिल पायी है। इनमें अभी केवल दीर्घकालिक मूल्य स्पष्ट हुए हैं जो मानव-परंपराओं और रूढ़ियों के आधार हैं। इसी प्रवृत्ति की एक महत्त्वपूर्ण परिणति हमें बौद्ध और जैन धर्मों में देखने को मिलती है जहां ईश्वर-रूपी सर्वोच्च 'तत्त्व' को अस्वीकार कर दिया गया है, जिसका कारण स्पष्ट है—यह कि यदि स्वयं मानव-अस्तित्व और चेतना को ही ईश्वरत्व तक उठाया जा सके तो तर्कतः ईश्वर—तत्त्व एक अनावश्यक धार्मिक 'बिंब' है। यहां तक कि वह एक शुद्ध प्रतीक के रूप में भी अनावश्यक हैं, क्योंकि सर्वोच्च परात्मक स्तर तक पहुँचे मानव-अस्तित्व और चेतना स्वयं ही सभी न्याय और शुद्ध भावनाओं के स्रोत हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य स्वयं ही अपना धार्मिक निर्माता और प्रतिष्ठा है। इस निर्माण और प्रतिष्ठा की नियामक विधियों का प्रकाश भी मानव-चेतना (ज्ञान, संकल्प, दृष्टि) का प्रकाश है। स्वयं-प्रेरित शुभता और नैतिकता के नियम ही धर्म का आधार हैं। धार्मिक बिंबों (यथा बौद्ध धर्म में बुद्ध, संघ आदि तथा जैन धर्म में तीर्थंकर आदि) में शुभता और नतिकता के तत्त्व ही चिरकालिक मूल्य हैं जो उन्हें शुद्ध बिंबों का रूप देते हैं। इन शुद्ध बिंबों की सर्जना में जागृत चेतना स्वप्न-चेतना में उपलब्ध धर्म-तत्त्वों को एक विशिष्ट ढंग से विकसित करती है, जिसकी चर्चा हम नीचे करेंगे।

जैसाकि हमने पहले कहा था, स्वप्न-चेतना की आत्मोपलब्धि में अभिव्यक्त स्वातंत्र्य-बोध का अवगमनात्मक रूप 'इड़ा' का है। यह स्वप्न-चेतना की बुद्धि है जो मननात्मक है। मानव-अस्तित्व और चेतना को उसके सर्वोच्च स्तर तक पहुँचाने के लिए सबसे पहले जागृत चेतना इस 'इड़ा' को 'प्रज्ञा' में विकसित करती है। इस विकास को समझने के लिए हमें पहले 'इड़ा' की संरचना समझना आवश्यक है। 'इड़ा' अपनी संरचना में त्रि-वृत्त्यात्मक है। वैदिक संहिताओं में 'इड़ा' सरस्वती और भारती को त्रिदेवी कह कर परस्पर संबद्ध किया गया है। स्वयं इड़ा स्तुति-स्वरूप है, यह श्रद्धा की निदर्शक वृत्ति है जो संकल्प में अंतर्भाव्य है। दूसरे शब्दों में, यह श्रद्धा की ग्रहणात्मक या प्रकाशक वृत्ति नहीं है। श्रद्धा की प्रकाशक-वृत्ति 'भारती' है और यह स्वप्न-चेतना की सर्जनात्मक कल्पना में अंतर्भाव्य है। भारती बहिरतिक्रामी स्वप्न-चेतना की संपूरक वृत्ति है, अर्थात् सम्यक् रूप से भरने या परिपूरण करने वाली चेतना-वृत्ति। द्रष्टव्य है कि स्वप्न-कल्पना में रचित बिंब या प्रतीक अपने-आप से सत्-स्वरूप वाले नहीं बनते, उनमें इस 'दिव्य' अर्थ का उद्भव तभी होता है जब इड़ा अपनी निदर्शक वृत्ति द्वारा उन्हें अंतरतिक्राम्यता में उपलब्ध आत्म-केन्द्रस्थता से स्वतंत्रतामूलक संरचना की एकता में जोड़ती है। इस तरह आत्मोपलब्धि में प्रकाशित स्वतंत्रता का प्रकाश उक्त कल्पना-बिंबों का भी अनिवार्य प्रकाश बन जाता है। इन बिंबों को दिव्यता इसी प्रकाश से मिलती है; और इड़ा ही वस्तुतः 'भारती' है जब वह इन बिंबों को इस तरह प्रकाश से भरती है। दोनों वस्तुतः एक ही बुद्धि की दो वृत्तियां हैं—इड़ा आत्म-केन्द्रता की वृत्ति है, जबकि भारती बिंब-केन्द्रता की,

और दोनों में केवल संदर्भ-भेद है, तत्त्व-भेद नहीं। पुनः, इड़ा ही बिंबों से अपनी भाव-बद्धता में 'सरस्वती' है, क्योंकि इस भाव-बद्धत्ता का तत्त्व स्वप्न-चेतना का पुनःसंस्कारित 'काम' है। चेतना से बिंबों की ओर निदर्शन में और बिंबों से चेतना की संरचनात्मक एकता में रागात्मकता पायी जाती है—बिंबों के परिपूरण द्वारा स्वयं आत्म-केन्द्रस्थता भी अपनी इच्छापूर्ति करती है, उसमें एक स्थायी और इच्छा-प्रेरित मोद का भाव जागता है। सुख की यही अंतःसलिला सरस्वती है। इस तरह इड़ा के इस त्रिवृत्त्यात्मक स्वरूप द्वारा श्रद्धा को उसका धार्मिक भाव मिलता है और बिंबों को धार्मिक दिव्यता मिलती है। **तैत्तिरीय** ब्राह्मण (१.१२.३.) के इस कथन को हमें इसी संदर्भ में समझना चाहिए : श्रद्धा द्वारा ही देवों को उनका देवत्व मिलता है और श्रद्धा ही इस लोक की अधिष्ठात्री देवी है।

श्रद्धा में संरचित उक्त 'इड़ा' नामक बुद्धि का रूपांतरण जब प्रज्ञा में होता है तब उसकी भारती-वृत्ति को ही प्रधान कर उसकी इड़ा (स्तुति)-वृत्ति और सरस्वती-वृत्ति को उसी में अंतर्भाव्य मान लिया जाता है। यहां इड़ा शुद्ध प्रकाशता है और यही उसका जागृत-चेतना में रूप है। किन्तु द्रष्टव्य है कि प्रकाशता के अतिरिक्त 'इड़ा' का एक और भी अर्थ है—प्रसरता। जागृत चेतना में प्रसरता की प्रमुख अभिव्यक्ति का 'वाक्' है जो 'इड़ा' (और 'भारती') का एक मुख्य पारंपरिक अर्थ भी है। जागृत चेतना की प्रवृत्ति जो धार्मिक बिंबों को शुद्ध प्रतीकों के रूप में मानव-अस्तित्व और चेतना के बिल्कुल परे प्रतिष्ठित करती है–जैसे इस्लाम और ईसाई धर्मों में––वहां 'इड़ा' का यह प्रसरता (वाक्) वाला रूप ही प्रधान है। वहां धर्म का आधार श्रद्धामय वाक् है जो सृष्टि के मूल में विद्यमान कहा गया है (देखिए : **न्यू टेस्टामेंट,** फर्स्ट एपिस्टल ऑफ जॉन, अध्याय 1; रेवेलेशन ऑफ सेंट जॉन,अध्याय १; इस्लाम का आधार **कुर्-आन** भी ईश्वरीय वाणी समझा जाता है) इस वाक् को 'इड़ा' के स्तुति-रूप से एकांततः जोड़ दिया गया है, जिससे वहां ईश्वर के लिए प्रयुक्त 'अल्लाह' शब्द का धातवर्थ बनता है। ('इल्' धातु से जिसका शाब्दिक अर्थ स्तुति-प्रार्थना है, और इसलिए 'अल्लाह' से अर्थ है वह जो स्तुति या प्रार्थना के योग्य है। यहूदी धर्मग्रंथ **ओल्ड टेस्टामेंट** में भी इसी 'इल्' धातु से बना 'इलाली' शब्द ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। ध्यातव्य है कि प्रस्तुत संदर्भ में 'इल्' धातु यहूदी-अरबी भाषा का है और इसका वैदिक शब्द 'इड़ा' से न केवल ध्वन्यात्मक वरन् अर्थसाम्य भी है।) दूसरी ओर, ईसाई धर्म में 'वाक्' को इड़ा की सरस्वती-वृत्ति से जोड़ा गया है और इसलिए वहां ईश्वर-संदर्भ में स्तुति के साथ 'प्रेम' पर अधिक ज़ोर है। ईश्वर के सम्बन्ध में इन सभी धर्मों की विशेषता यह है कि वे उसे मूलतः सृष्टिकर्त्ता मानते हैं जो उस संदर्भ में प्रसरता के भाव को प्रधानता देता है। और चूंकि मानव-अस्तित्व और चेतना को सृष्टि का अंग मान लिया जाता है, अतः प्रसरता के भाव से युक्त वह सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर मनुष्य मात्र से एकांततः पृथक् हो जाता है।

भारत-मूल के धर्मों में या तो ईश्वर सृष्टिकर्त्ता के रूप में सृष्टि में अंतर्भाव्यतः व्याप्त होकर भी उससे परे है और इस दृष्टि से मानव-अस्तित्व और चेतना से उसकी संरचनात्मक एकता है (यथा, वैदिक धर्म में, जहां मर्त्य, मनुष्य, अमर्त्य देवताओं का सहोदर है और ईश्वर और मनुष्य दोनों की अभिधा 'पुरुष' है, तथा साथ ही सृष्टि में मनुष्य ईश्वर का भागीदार है—देखिए, **ऋग्वेद** (१०.९०) के पुरुषसूक्त में दो 'पुरुषों' का सृष्टि-संदर्भ में भेद (एक अमृत और दूसरा मर्त्य), या फिर सारी सृष्टि ही अव्याकृत और विकीर्ण निद्रित चेतना की अभिव्यक्ति

है और मनुष्य जाग्रत चेतना की अवस्था में स्वतः उस सृष्टि-चक्र से परे पहुंच जाता है। (यह बौद्ध और जैन धर्मों के अतिरिक्त सांख्य की भी मान्यता है।) दोनों ही स्थितियों में इड़ा की प्रकाशता या प्रज्ञा पर ज़ोर है और इड़ा (स्तुति) व सरस्वती-वृत्तियाँ उसी में अंतर्भाव्य हैं। पुनः, दोनों ही स्थितियों में ईश्वर को एक पृथक् परात्मक सत्ता मानने से बचा गया है, या उसे वैसा तभी माना गया है जब मानव-अस्तित्व और चेतना को उस परात्मक स्तर तक नहीं उठाया जा सका है और उसे वहां तक पहुँचाने के लिए साधना जारी है। इस साधना में स्वप्न-चेतना की श्रद्धा और जाग्रत चेतना की नैतिकता अनिवार्य तत्त्व हैं। जब इस साधना के फल-स्वरूप प्रज्ञा विकसित होती है तब वह तत्त्वतः उक्त श्रद्धा में ही अन्तर्रचित मानी जाती है (**तैत्तिरीय आरण्यक**, १०.६४ और आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३.६.१) और नैतिकता को भी उसी का प्रकाश माना जाता है (जैसे, बौद्ध और जैन धर्मों में)। द्रष्टव्य है कि नैतिकता के संबंध में यह दृष्टिकोण यहूदीमूल के धर्मों के दृष्टिकोण से नितांत भिन्न है जहां नैतिकता मानव-चेतना में स्वतः-स्फूर्त रूप से विकसित न होकर ईश्वरीय आदेश मानी जाती है। इसलिए इन धर्मों में नैतिकता का रूप पारंपरिक और समष्टिमूलक होता है जबकि भारतमूल के धर्मों में वह साधना का अंग होने से मूलतः व्यष्टिमूलक होता है।

अब तक हमने काफी विस्तारपूर्वक यह दिखाने की चेष्टा की कि धर्म और धर्म-चेतना की संरचना का अपना एक विशिष्ट रूप है और उसका अनिवार्य संबंध मानव-चेतना की अतिक्रामी-वृत्ति के एक विशेष ढंग से क्रियाशील होने से है। हमारी इस विवेचना से यह भी स्पष्ट है कि उक्त संरचना बड़ी जटिल है और उसे दार्शनिक दृष्टिकोण से ही ठीक उसके स्वरूप में समझ सकना संभव है। यह दार्शनिक दृष्टिकोण धर्म-संरचना पर एक प्रक्षेप है और इसलिए हमने अपनी विवेचना के अन्तर्गत कई ऐसी बातों का उल्लेख किया है जो दर्शन-सापेक्ष हैं, धर्म-साक्षेप नहीं, यद्यपि वे धर्म-संरचना में ही उसके घटक तत्त्वों के रूप में विद्यमान हैं। इन तत्त्वों का दार्शनिक स्पष्टीकरण और व्याख्या आवश्यक है जिससे कि धर्म को उसकी प्रामाणिकता मिल सके। एक और भी महत्त्वपूर्ण बात इस संदर्भ में यह है कि चूँकि शायद दार्शनिक चिंतन का आरंभ इसी तरह के स्पष्टीकरण और व्याख्या—जो धर्म-संरचना पर प्रक्षिप्त दार्शनिक अंतर्दृष्टि के रूप में प्रकट है—से होता है, स्वतः दर्शन में आद्यतः प्रस्तुत प्रवृत्तियों की एक अच्छी जानकारी हमें दार्शनिक चिंतन के इस आरंभिक रूप में मिल सकती है। अपने इस लेख के शेष अंश में हम कुछ इन्हीं आद्य प्रवृत्तियों की चर्चा करेंगे।

(१) स्वप्न-चेतना में अतिक्रामी वृत्ति की सक्रियता से जो इतिहास-बोध जागता है उससे न केवल वस्तु-रूपों और घटना-क्रम की एक दिशा प्रकट होती है, वरन् साथ ही प्रदत्त वस्तु-रूपों और घटना-क्रम में प्रतीकात्मक अर्थ-परिवर्तन कर मनुष्य उन्हें अपने उद्देश्यों के अधिक निकट ला सकने में समर्थ होता है। इस स्थिति पर दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रक्षेप से यह महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है कि अतिक्रामी वृत्ति की सक्रियता की इस अवस्था में मानव-चेतना अनंतरूप से विस्तारित नैसर्गिक भूतकाल और उतने ही अनंत रूप से विस्तारित संभावित भविष्यत् को अपनी आत्म—केंद्रस्थता की धुरी पर मापनीय बनाती है। द्रष्टव्य है यह वह तथ्य है जिसका उपयोग एक पूर्वमान्यता के रूप में बाद में विकसित होने वाले विज्ञान में किया जाता हैं। इस तरह चेतना की स्वरूपावस्था में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक-प्राविधिक

पूर्वमान्यता की नींव पड़ती है, यद्यपि इसके पहले कि वह वैज्ञानिक प्राविधिक मान्यता का रूप ले सके उसे दार्शनिक प्रक्षेप द्वारा चेतना की संरचना के एक मूलभूत तत्त्व के रूप में बोधगम्य बनाना आवश्यक है। वस्तुतः यह मनुष्य की सारी सांस्कृतिक उपलब्धियों और ज्ञान-संस्थानों के आधार में अनंत कालावधि को मापनीय बनाना और उक्त रूप में उसे मानव-चेतना की संरचना में ही तत्त्वतः बोधगम्य रूप में स्थापित करना है। मनुष्य ने इस तरह जैसे सारे प्रदत्त विश्व-क्षेत्र (धार्मिक 'मृत्यु-क्षेत्र') का पर्यवेक्षण और परिसीमन कर लिया और तदनुकूल उसमें अपने रहन-सहन की सुव्यवस्था कर ली। मनुष्य ने जैसे सारे ज्ञात और अज्ञात इतिहास की नाड़ी पढ़ ली और एक पूरी कालावधि में स्वयं अपनी और अपने जगत् की अर्थ-प्रतिष्ठा द्वारा अपनी श्रेष्ठता के झंडे फहरा दिए।

(२) किन्तु उक्त इतिहास-बोध में दार्शनिक दृष्टि के प्रक्षेप का यह केवल एक पहलू है। दार्शनिक जिज्ञासा एक गृहहीन परिव्राजक की तरह है; उसके लिए सतत गति ही जीवन है और ठहराव मृत्यु। इसीलिए जहां इतिहास-बोध का सुरक्षा-कवच ओढ़ कर मनुष्य के सारे ज्ञान-विज्ञान, धर्म-सहित, एक तरह से पूरे निश्चित हो जाते हैं वहां दार्शनिक दृष्टि उस सुरक्षा-कवच के भीतर झांक कर देख पाती है कि चेतना की आत्म-केन्द्रस्थता का उसका आधार बड़ा डावांडोल है। उस चेतना के भीतर अंतरतिक्राम्यता की सक्रियता है जो उस चेतना के किसी भी इतिहास-बोध को भीतर से सुरक्षित नहीं रहने देती। इतिहास-बोध में आभासित सुरक्षा-भाव का आधार है काल की एक दिशा में होने वाली गति की अपरिवर्तनशीलता। अंतरतिक्राम्यता की सक्रियता में इस अपरिवर्त्य काल-गति में परिवर्तन की संभावनाएं प्रकट होती हैं। अंतरतिक्रामी वृत्ति, जो धार्मिक-चेतना की केंद्रस्थता में आत्मोपलब्धि का रूप धारण करती है, काल की सारी गति को जैसे एक तात्त्विक बिंदु पर समेट देती है और इसलिए इतिहास का रूपांतरण पुराण में हो जाता है। इतिहास की गतिशीलता जैसे पुराण के मूल्यांकन में आकर स्तब्ध हो जाती है—यह वह बिन्दु है जहां पर स्थित होकर मनुष्य न केवल भूत से भविष्यत् की ओर वरन् उतनी ही सरलता से भविष्यत् से भूत की ओर चल सकता है। गतिशील जैसे अपने सार में शाश्वत बन जाता है जबकि बाकी सब-कुछ, जो ऐसा नहीं है, केवल गौण और अमहत्त्वपूर्ण है। धार्मिक चेतना में प्रकट हुआ पाप-पुण्य का भेद तथा नैतिक शुभाशुभ का भेद अपनी अंतिम परिणति में इस शाश्वत-अशाश्वत के भेद से ही जुड़ जाता है। इतिहास का उसके भीतर से अतिक्रमण जागृत चेतना की अतिक्राम्यता—दार्शनिक दृष्टि—की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक है, क्योंकि धार्मिक श्रद्धा को इसी से उसकी प्रामाणिकता मिलती है। सहज काल-गति में उसके भीतर से अतिक्रमण की स्थिति में एक व्याघात-भाव उत्पन्न होता है—काल के अंतर में कालातीत का भाव, इतिहास के अंतर में शाश्व मूल्यों या श्रेयस् का भाव। अब, कोई भी व्याघातक स्थिति किसी ज्ञान का विषय न होकर ज्ञान की बाहरी सीमा ही निर्धारित कर सकतीकिन्तु तब इस व्याघातक स्थिति का, जो धार्मिक चेतना में ही अंशभूत है ज्ञान कैसे संभव है? कीर्केगार्ड का मत है कि धार्मिक श्रद्धा (फ़ेथ) स्वतः ही ज्ञान की वह असाधारण विधा है जो उक्त व्याघात को धर्म-चेतना में अभिव्यक्त मूल सत् के रूप में उजागर करती है।वह ज्ञान की मौलिक और अवैज्ञानिक विधा है। कीर्केगार्ड श्रद्धा को ईसाई धर्म-चेतना का एक अति-विशिष्ट आधार समझता है (जिससे एक ईसाई धर्मानुरागी जीसस क्राइस्ट को

एक-साथ ही ईश्वर (इतिहासातीत) और ईश्वर-पुत्र (ऐतिहासिक)रूप में देख सकता है । वस्तुतः जैसाकि हमने अभी कहा था, अपने अधिक सामान्य रूप में यह व्याघात—इतिहास का उसके भीतर से अतिक्रमण—सभी धर्मों के आधार में विद्यमान है और ईसाई धर्म में उसकी केवल एक विशेष अभिव्यक्ति देखने को मिलती है । इतिहास-अतिक्रमण के बिना स्वप्न-चेतना के बिंबों और प्रतीकों को दिव्यता मिल पाना असंभव है ।

(३) यह बात प्रायः भुला दी जाती है कि धार्मिक श्रद्धा का भी एक विशेषरूपेण प्रमाणीकरण दार्शनिक दृष्टिकोण से मिलता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि साधारणतः हम सारे प्रमाणीकरण को वैज्ञानिक चिंतन के लिए सुरक्षित समझ लेते हैं, जबकि सत्य यह है कि प्रमाणीकरण की चेष्टा जागृत चेतना—जिसमें वैज्ञानिक चिंतन के अतिरिक्त दार्शनिक चिंतन भी आता है—की एक सहज अतिक्रामी वृत्ति है। दार्शनिक प्रमाणीकरण का संदर्भ आत्म-केंद्रित होता है जबकि वैज्ञानिक प्रामाणिकता वस्त्वर्थ-केंद्रित होती है। धर्म के संदर्भ में उसके आधारभूत श्रद्धा के प्रमाणीकरण का प्रश्न जब उठता है तब निःसंदेह वह एक वैज्ञानिक, वस्त्वर्थक प्रश्न नहीं होता। यह शुद्धतः धार्मिक प्रश्न भी नहीं है, क्योंकि धर्म-चेतना अपने मूलाधार को ही प्रश्नों के घेरे में खड़ा कर स्वयं अपने प्रयत्नों से संदेहास्पद नहीं बनाती। जागृत चेतना के अंतरतिक्रमण के प्रभाव से उठ खड़ा हुआ प्रमाण-संबंधी यह प्रश्न वस्तुतः एक दार्शनिक प्रश्न हैं। इसका सामान्य रूप है : ये आत्मा के द्वारा और आत्मा के लिए उठाये गये प्रश्न हैं। इनकी जड़ आत्म-चेतना में है और इनका उद्देश्य भी आत्म-चेतना की प्रखरता है। इनका उद्देश्य किसी विशेष ज्ञान की उपलब्धि नहीं है, वरन् उपलब्ध ज्ञान में अन्तर्दृष्टिपूर्वक उसके प्रामाणिक स्वरूप की खोज है। इसलिए दार्शनिक प्रश्न जागृत-चेतना की बहिरतिक्राम्यता में उपलब्ध हुए वैज्ञानिक ज्ञान की आद्य प्रामाणिकता से भी संबंधित हो सकते हैं, उस हद तक जहां तक कि इस तरह का ज्ञान चेतना का एक प्रकाश है। (द्रष्टव्य : देकार्त का 'यूनिवर्सलिस मेथासिस', कांट का 'ट्रांसेन्डेन्टल क्रिटीक्' और हुस्सर्ल का 'प्योर फिनॉमिनॉलॉजी' इसी दिशा में किये गये प्रयास हैं।) प्रस्तुत संदर्भ में, स्पष्ट है कि श्रद्धा के प्रामाणीरकण के संबंध में उठे दार्शनिक प्रश्न के उत्तर पर धर्म की विशाल इमारत का स्थिर होना या न होना निर्भर करता है। अतः आश्चर्य नहीं कि अधिसंख्य धर्म इस चरम प्रश्न से कतराते हैं और फलतः उनमें आद्यतः स्थित श्रद्धा का रूप अंध-विश्वास का हो जाता है। जागृत चेतना की अवस्था में धार्मिक श्रद्धा के लिए ये दो ही मार्ग हैं—या तो साहसपूर्वक आगे बढ़ कर वह अपनी दार्शनिक प्रामाणिकता सिद्ध करे या फिर वैज्ञानिक प्रामाणिकता के उठे हुए प्रबल दंड से भयभीत किसी अंधे कोने में सिकुड़ी बैठी रहे। धार्मिक श्रद्धा की दार्शनिक प्रामाणिकता की रूपरेखा हमें **छांदोग्योपनिषद्**–(७.२०) में मिलती है जो आश्चर्यजनक ढंग से इस संबंध में व्यक्त आधुनिक विचारों के समतुल्य है। इस उपनिषद् के अनुसार सत् को धारण करने वाली श्रद्धा का आधार उसमें अंतर्निहित 'निष्ठा' है, अर्थात् श्रद्धा में संकल्प का वह अंश जो आत्म-केंद्र को श्रद्धा के प्रति एकनिष्ठ रखता है और मानव-अस्तित्व की बदलती परिस्थितियों के प्रभाव में उसे विचलित नहीं होने देता। किन्तु इस तरह की 'निष्ठा' स्वतः तभी प्रमाणित हो पाती है जब उसकी परिणति 'कृति' में हो। 'कृति' का अर्थ है इंद्रियसंयम-पूर्वक किया वह कर्मानुष्ठान जो आत्मकेंद्रस्थ संकल्प को श्रद्धा-संश्लिष्ट बिंबों और प्रतीकों से एक संरचना में सूत्रबद्ध करता

है। इस सारी प्रक्रिया में आत्म-चेतना और वस्त्वर्थ के बीच एक निर्बाध नियामक एकता का तत्त्व (वैदिक 'ऋण') उभरता है। शुद्ध तात्त्विक सत्य के रूप में यह 'भूमा' है, जो इसी लिए स्वयं 'कृति' के मूल में है। यह भूमा ही चरम सत् है, चित् है, और आनन्द है। यही आत्मा है और इसलिए ब्रह्मपुर है; यही ब्रह्म है और इसलिए अशनापिपासा-शून्य सत्यकाम और सत्यसंकल्प-रूपी आत्म-चेतना है। यही आत्म-चेतना श्रद्धा के मूल में अवस्थित उसकी स्वतःप्रामाणिकता (दार्शनिक प्रामाणिकता) है। यह 'अल्प' द्वारा बाधित नहीं होने से किसी भी सीमित (पूर्वकल्पना या प्राक्कल्पना पर आधारित) बौद्धिक प्रामाणिकता से परे है, इसलिए वह वैज्ञानिक प्रामाणिकता से भिन्न है जो मूलतः प्रदत्त वस्तु-रूपों की अभेद्यता को उनके सार-रूप वस्त्वर्थों में बदल कर उन्हें चेतना के लिए पारदर्शी तो बनाती है किन्तु इन वस्त्वर्थों की आत्म-चेतना से संरचनात्मक एकता नहीं दिखा पाती। अतः वैज्ञानिक प्रामाणिकता से उभरा सत्य भी हर स्थिति में प्राक्कल्पनात्मक होता है। दूसरी ओर, दार्शनिक प्रामाणिकता, उदारणार्थ जैसीकि वह श्रद्धा के संदर्भ में उपर्युक्त ढंग से प्रकट है, बिंबों और प्रतीकों को पारदर्शी बना कर उन्हें चेतना में ही संरचित हुआ दिखा उस संदर्भ में उपलब्ध सत्य को स्वयं सिद्ध सत्य के रूप में व्यक्त करती है।

दर्शन विभाग,
विश्वभारती, शांतिनिकेतन

परामर्श (हिन्दी)

गत छः वर्षो से नियमित रूप से प्रकाशित होने वाली दार्शनिक पत्रिका
खण्ड 7, अंक 4 (सितम्बर, 1986) में प्रकाशित होने वाले लेख :—

रामदास पाण्डेय	:	तर्कणा एवं प्रातिभ ज्ञान
मधुमती	:	समाज और धर्म
सूर्यप्रकाश व्यास	:	काश्मीर शैव-दर्शन एवं शंकराचार्य
लीलाराम	:	जॉन रॉल्स : एक मूल्यांकन
रामजी सिंह	:	हिन्दू कौन ? प्रश्न और उत्तर
याहेन फाईस	:	धर्म और लौकिकता – विरोध या समन्वय
वीरेन्द्रकुमार सिंह	:	मूर का प्रकृतिवादिता का दोष
एस. आर. व्यास	:	अमरता की समस्या और उसके विभिन्न रूप
मिथिलेश पाण्डेय	:	जैमिनी तथा बादरायण में मत-वैषम्य

सदस्यता शुल्क

संस्था (स्थायी)	रुपये	1000/–
संस्था (वार्षिक)	रुपये	20/–
व्यक्ति (आजीवन)	रुपये	200/–
व्यक्ति (वार्षिक)	रुपये	14/–

सम्पर्क करें

कार्यकारी सम्पादक,
परामर्श (हिन्दी)
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे–411007

उन्मीलन : वर्ष 2, अंक 2,
जुलाई, १९८६

२

अभाव–संप्रत्यय की दार्शनिक सम्भावनाएं –२

नारायण शास्त्री द्राविड़

विगत अंक में शुद्ध निरन्वय अभाव के संप्रत्यय की आवश्यकता तथा तार्किकता का आंशिक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया था। इस लेख में यह विशद किया जायेगा कि भावसंबद्ध अभाव की पारंपरिक दार्शनिक अवधारणा ही प्रमुखतया अनेकानेक समस्याओं को जन्म देती है जिनका निरसन इस अवधारणा के स्थान पर निरन्वय अभाव की अवधारणा के पुरस्कार से ही संभव है। प्रथम, भाव और अभाव के तथाकथित (न्याय-संमत) प्रतियोगिता-संबंध का ही विचार कर देखें। भाव अभाव का प्रतियोगी इस कारण माना जाता है कि वह अभाव का सहवर्ती नहीं होता। जैसे घट और उसका अभाव समानाधिकरण नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि भाव-अभाव की प्रतियोगिता उनकी परस्पर विरोधिता है। किन्तु नैयायिक प्रतियोगिता को भी एक संबंध कहकर भाव और अभाव को इस संबंध से संबद्ध मान लेते हैं। इस पर से अनजाने ही यह संभ्रम पैदा हो जाता है कि प्रतियोगीता-संबंध वैसा ही एक संबंध है जैसा घट और उसके आधार भूतल का प्रतियोग्यनुयोगि-भाव संबंध। इस संभ्रम के फलस्वरूप अभाव को घटाधार भूतल के समान घटरूप प्रतियोगि का अनुयोगी समझने की गलती अनजाने ही घटित हो जाती है। इस गलती का परिणाम यह होता है कि भूतल के समान घट के साथ प्रतियोगिता-संबंध से संबद्ध घटाभाव को घट जैसा ही पद प्राप्त हो जाता है और 'अभाव' एक भावांतर के जैसे पदार्थ के रूप में व्यवहृत होने लगता है। अभाव पर भाव के प्राय: सभी धर्म आरोपित होते हैं और फिर भी वह भावातिरिक्त पदार्थ के रूप में (नाम मात्र के लिए) पुरस्कृत हुआ करता है। दार्शनिक लोग यह भूल जाते हैं कि भाव-अभाव का विरोध कोई संबंध न होकर वह सब प्रकार के संबंधों का आत्यंतिक अभाव है। विरोधिता या प्रतियोगिता को संबंध मानने की बाध्यता अतर्कसंगत है और वह गलत शब्द-प्रयोग के कारण उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, किसी स्थान-विशेष में अपेक्षित वस्तु विशेष को न देखने पर 'यहाँ इस वस्तु का अभाव है' ऐसा सामान्यतया जो वाक्य-प्रयोग किया जाता है उस पर से वस्तु और अभाव के संबंध का प्रत्यय उत्पन्न होता है। किन्तु इस वाक्य-प्रयोग के प्रचलित तथा दार्शनिक-पुरस्कृत होने पर भी यह भ्रांत है। 'यहां अमुक वस्तु का अभाव है' ऐसा सामान्य-तया जो वाक्य-प्रयोग किया जाता है उस पर से वस्तु और अभाव के सम्बन्ध का प्रत्यय उत्पन्न होता है। किन्तु इस वाक्य-प्रयोग के प्रचलित तथा दार्शनिक-पुरस्कृत होने पर भी यह भ्रांत है।

'यहां अमुक वस्तु का अभाव है' इस प्रयोग के स्थान पर 'यहां यह वस्तु नहीं है' ऐसा प्रयोग अधिक तर्कसंगत होगा। इन दो वाक्यों की सूक्ष्मता से तुलना करने पर प्रतीत होगा कि द्वितीय वाक्यांतर्गत 'नहीं' शब्द किसी वस्तु विशेष (अभाव जैसी) का वाचक न होकर (या किसी का भी वाचक न होकर) केवल निषेधक या अपवारक है और वह निषेध या अपवारक का काम करता है। अर्वाचीन दार्शनिक ऑस्टिन के एक शब्द का प्रयोग कर हम कह सकते हैं कि 'नहीं' यह क्रियात्मक (पर्फोर्मेटरी) शब्द है (अर्थ-बोधक नहीं)। अतः 'नहीं है' ऐसा 'नहीं' के साथ 'है' को जोड़कर प्रयोग करना ठीक नहीं है। ऐसे प्रयोग से अभाव की भाव-समकक्ष सत्ता द्योतित होती है जबकि केवल 'नहीं' अभाव के निरन्वय स्वरूप को सूचित करता है।

नैयायिकों ने अभाव की प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव तथा अन्योन्याभाव जैसी विधायें मानकर अभाव को भाव का पद दिलाने में अनजाने सहायता ही की है। किसी की उत्पत्ति के पूर्व जो उसका अभाव होता है वह उसके उत्पन्न होने की अपेक्षा उत्पन्न करता है। वस्तु के विनाश के अनन्तर नष्ट वस्तु के संबंध में जो रिक्तता का अनुभव होता है वह विनाश-रूप अभाव का परिणाम होता है। दो या अनेक वस्तुओं को साथ देखने (सोचने) पर उनमें परस्पर तादात्म्य दृग्गोचर न होने से जो अनेकता की अनुभूति होती है वह भेद-प्रत्यय पर आधारित होती है। स्थान-विशेष में वस्तु-विशेष की उपस्थिति की अपेक्षा यदि पूर्ण नहीं हुई तो उस स्थान में उस वस्तु का अत्यंताभाव विद्यमान माना जाता है। आकाश-पुष्प जैसे अलीक पदार्थों के संबंध में विचार करने पर जो विचित्र अनुभूति (कल्पना और यथार्थ की परस्पर असंगति की) होती है उसका आधार भी अत्यंताभाव को कुछ दार्शनिक मानते हैं। जैसा आचार्य कुमारिल कहते हैं "अत्यंतासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि:" शब्दार्थ भूत अवस्तु होने पर भी शब्द अर्थ-बोधन कराता ही है। इस स्पष्टीकरण से यह प्रकट हो जाता है कि अभाव को भाव-संबद्ध अतएव भावात्मक क्यों और कैसे समझा गया। कुछ अपेक्षायें या मनोवृत्तियाँ ऐसी होती हैं जो एक बाह्य ठोस आधार की भ्रांतिवश अपेक्षा करती हैं। यह अपेक्षा इन मनोवृत्तियों में स्वभावतः ही बाह्य सन्निविष्ट होती हैं। किन्तु बाह्य वस्तुस्थिति का इन अपेक्षाओं के अनुरूप होना आवश्यक नहीं है। अन्ततोगत्वा मानसिक अपेक्षाएं अपेक्षाएं ही हैं। ये सहज प्रवृत्ति मूलक भी हो सकती हैं। इन्हें वस्त्वाधारित मानने की अपेक्षया स्वाधारित मानना अधिक तर्कसंगत है। अभावों के रूप में मनोवृत्तियों, या बौद्धों के शब्दों में वासनाओं के वास्तवीकरण की प्रवृत्ति अभाव को भाव का पद दिलाने में सहायक होती है, ऐसा भी हम कह सकते हैं।

अन्य भारतीय दार्शनिकों ने भी अभाव को भावभिन्न कहते हुए भी उसे भावरूप ही माना है। यह तथ्य उनके अभाव-संबंधी विचारों के परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है। जैसे कुछ मीमांसक अभाव को अधिकरण-रूप कहते हैं। जैसे भूतल पर घट न हो तो उसमें जो घट का अभाव प्रतीत होगा वह भूतल-रूप ही होगा। इस पर प्रश्न हो सकते हैं कि जो अभाव भूतलवृत्ति प्रतीत होता है वह भूतल रूप कैसे है और भूतल यदि घटाभाव रूप है तो घट के भूतल पर विद्यमान रहने पर भी घटाभाव का प्रत्यक्ष वहाँ क्यों नहीं होता? इन प्रश्नों के उत्तर विशेष कठिन नहीं हैं। भूतल को घट के अनुपस्थित रहने पर ही घटाभाव प्रत्यक्ष का कारण मानकर तथा 'भूतल में घटाभाव है' इस प्रतीति को गौण कहकर उक्त दोनों प्रश्नों का किसी तरह समाधान किया जा सकता है। किन्तु यहाँ इस समाधान का महत्त्व नहीं है।

महत्त्व है अभाव को भावरूप समझने का जिससे अभाव की अभावता ही समाप्त हो जाती है।

भाट्ट मीमांसक अभाव को भावांतर मानते हैं। उदाहरणार्थ भूतल में घट न हो तो जो भी पदार्थ घट के स्थान पर भूतल पर होगा वही 'घटाभाव' कहा जा सकता है। यदि भूतल पर घट न हो, घटान्य पदार्थ भी न हो, तो भूतल ही घटाभाव का प्रतिनिधित्व कर सकता है। केवल अभाव की प्रतीति को भाव-प्रतीति-सापेक्ष मानना इस मत में आवश्यक होगा। बहुत कुछ इससे मिलता-जुलता ही मत साँख्य मतावलंबियों का भी है। वे वस्तु-विरहित स्थान के धर्मविशेष को--जिसे वे कैवल्य कहते हैं—अभाव का स्वरूप मानते हैं। अद्वैत वेदान्ती और बौद्ध ही अभाव की भाव-भिन्नता को समझ पाये हैं, ऐसा उनके विचारों के विश्लेषण से पता चलता है। इस सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व अभाव-प्रत्यय की भाव-संयुक्तता के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है।

अधिकतर दार्शनिक, विशेषकर तर्कशास्त्री, शुद्ध अभाव-बोध की सम्भावना को ही अस्वीकार करते हैं। 'घट धार्मिक नहीं', 'मनुष्य आम का पेड़ नहीं' जैसे वाक्यों से होने वाला बोध निरपेक्ष अभाव-विषयक प्रतीत होता है। इसकी निरपेक्षता का प्रमाण यह है कि इस निषेधात्मक वाक्य को सुनने के बाद सुनने वाला उसके अर्थ के विपरीत विध्यात्मक अर्थ का पुरस्कार नहीं करता। घट धार्मिक नहीं तो अधार्मिक है, ऐसा कोई नहीं समझता, न ही 'मनुष्य आम का पेड़ न हो तो वह शायद कटहल का पेड़ होगा' ऐसा भी कोई अंदाज़ नहीं लगाता है। इसी कारण ऐसे निषेधों को अर्थवान् समझा जाता है जो किसी विधि का दिशा-निर्देश करते प्रतीत हों। जैसे 'घट नील नहीं,' 'आदमी दुष्ट नहीं' आदि वाक्यों से बोधित निषेध स्पष्टतया 'घट नील से भिन्न रूप वाला है', 'आदमी सज्जन भी हुआ करता है' के समान विध्यर्थ को सूचित करते हैं। इस तरह, अभाव-प्रत्यय भाव-संयुक्त ही होना चाहिए ऐसा अनेक दार्शनिकों का आग्रह है। विचार कर देखा जाय तो इस आग्रह के पीछे भी अभाव की भाव-भिन्नता को भुला कर उसे भाव का चोला पहनाने की ही प्रवृत्ति है। वास्तव में 'घट नील नहीं' तथा 'घट धार्मिक नहीं' इन दो भिन्नतया प्रतीति-विषय निषेधों में जो भेद है वह मानसिक अपेक्षाकृत है। पहला निषेध नील से भिन्न पीतादिवर्ण की घट में उपस्थिति की अपेक्षा का निर्माण करता है जबकि दूसरा घट के सम्बन्ध में ऐसी किसी अपेक्षा को जन्म नहीं देता। इस अपेक्षा-भेद का भी कारण यह है कि 'नील-भिन्न' को प्रायः पीत, रक्त, श्वेत भावात्मक वर्गों के विकल्प के रूप में ही सामान्यतया पहचाना जाता है किंतु 'धार्मिक-भिन्न' या 'अधार्मिक' को ऐसे कुछ वर्गों के विकल्प के रूप में घट जैसी वस्तु के सन्दर्भ में विश्लेषित नहीं किया जाता। अधार्मिकता में समाविष्ट हो सकने वाले जो संभाव्य वर्ग हैं—नास्तिक, अर्धनास्तिक आदि, उनमें से किसी में घट का अंतर्भाव असम्भव होने से उसे तर्कतः 'धार्मिक नहीं' इस निषेध का विषय नहीं माना जाता। इस पर से स्पष्ट हो जाता है कि आपाततः शुद्ध अभाव-रूप प्रतीत होने वाला निषेध-वाक्यार्थ भी अन्ततोगत्वा विधि में ही परिणत हो जाता है। यह कोई तार्किक बाध्यता नहीं है। भारतीय दार्शनिक परिभाषा को अपनाकर हम कह सकते हैं कि किसी भी निषेध को प्रसज्य प्रतिषेध-रूप न मानकर पर्युदास-रूप ही माना जाय तो कोई विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। केवल ऐसे निषेध-वाक्यों की सार्थकता

के सम्बन्ध में, जो बोलचाल की भाषा में निर्बन्ध रूप से मान लिये गये हैं, उन्हें क्षीण कर देना होगा। इस से 'घट धार्मिक नहीं' ऐसे निषेधों के समान 'घट पटत्वेन घट नहीं', 'घट स्वरूप-सम्बन्ध से घटत्ववान् नहीं' जैसे केवल तार्किकों के चर्चा-विषय निषेध भी सार्थक की कक्षा में लाये जा सकते हैं और निषेध का शुद्ध निषेधात्मक जो रूप है उसकी रक्षा की जा सकती है। यह बात नहीं कि दैनंदिन लोकव्यवहार में ऐसे निषेध का कोई प्रयोजन न हो। 'क्या घोड़े के सींग होते हैं ?' ऐसे प्रश्न पर 'नहीं' कहकर जो उत्तर दिया जायगा वह शुद्ध निषेधात्मक ही होगा। घोड़े के सींग नहीं तो और कुछ होते हैं, जैसे हाथ ? यहां 'नहीं' से ऐसा भी कोई अभिप्राय नहीं माना जाता। प्रश्नकर्ता को यदि किसी वस्तु की विशेष भाव-रूपता को प्रकाश में लाना हो तभी उसके प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर भावरूप अर्थ में परिणत (प्रायः) माना जाता है। जैसे 'क्या कपड़ा लाल है ?' यह पूछने वाला कपड़े को किसी न किसी रंग की वस्तु के रूप में पूर्वाभ्युपगत समझकर उसके संभाव्य वर्ण के ज्ञान की इच्छा प्रदर्शित करता है। उत्तर में 'लाल नहीं' ऐसा निषेध-वाक्य प्रयुक्त हुआ सुनकर प्रश्नकर्ता कपड़े की लाल से भिन्न वर्णता के तथ्य को सूचित समझ लेता है। निषेध की एक विचित्रता यह है कि वह सामान्यतया प्रश्न के उच्चार के बिना प्रयुक्त नहीं होता। निषेध का प्रयोग विधि पर निर्भर होता है अतः विधि-वाक्य में किसी न किसी रूप में यहां विधि का अर्थ भावात्मक ही अभि-प्रेत है जो अपेक्षा में गर्भित है। उससे निषेध-वाक्य उन्मुक्त नहीं हो सकता। यह विधि-निषेध वाक्य-प्रयोगों की (पारस्परिक) सापेक्षता है। शुद्ध अभाव में ऐसी भाव-सापेक्षता मानने की काई आवश्यकता नहीं है। यदि निषेध-वाक्यों को भाषा के लिये आधारभूत मान लिया जाय तो विध्यात्मक शब्दों के अर्थों (या उनसे सूचित होने वाली अपेक्षाओं) में मूलभूत परि-वर्तन आवश्यक हो सकते हैं। वाक्य-रचना के नियम भी अब बदल देने होंगे।

अभाव को भाव के रूप में देखने-समझने के प्रयास में भारतीय (तथा अन्य भी) दार्शनिकों ने किस प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अभाव या असत् पर भाव-धर्मों का आरोप किया है यह अब तक के विवेचन से बहुत कुछ स्पष्ट हो गया होगा। अब हम भ्रमज्ञान-या असद्विषयक ज्ञान के विवेचन के सन्दर्भ में भी 'असत्' प्रत्यय का पुरस्कार न कर सत्-प्रत्यय के द्वारा ही भ्रान्ति का स्पष्टीकरण करने के हेतु किस प्रकार ये दार्शनिक प्रयत्नशील हैं यह बात एक-दो उदाहरणों से विशद करेंगे। रज्जु में सर्प-भ्रम असत् सर्प के प्रतिभान का ही परिणाम होता है। सर्प मात्र अत्यन्त असत् है, यह बात नहीं है। तथापि रज्जु में तत्काल भासमान सर्प अत्यंतासत् है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा। दार्शनिक लोग अत्यंतासत् को ज्ञान-विषय मानने से घबराते हैं, क्योंकि यदि किसी एक ज्ञान का (भ्रांति का ही क्यों न हो) विषय अत्यन्तासत् हो तो किसी भी अन्य ज्ञान के विषय की सत्यता के सम्बन्ध में हम आश्वस्त नहीं रह सकते। ज्ञानमात्र के सम्बन्ध में ही तब अविश्वास पैदा हो जायेगा। अतः सत् का ही विपर्यस्त रूप में ग्रहण अयथार्थ या भ्रांत होता है ऐसा दार्शनिक मानते हैं। इस ग्रहण का आधार या अधिष्ठान भी सत् ही होना चाहिये ऐसा उनका आग्रह होता है। असत्-अधिष्ठानक या निरधिष्ठानक भ्रम केवल बौद्ध स्वीकार करते हैं। भ्रम तथा यथार्थ ज्ञान दोनों के लिए सत्य-अधिष्ठान की आवश्यकता आस्तिक विचारक इसलिए महसूस करते हैं कि भ्रम-निरास के पूर्व भ्रम यथार्थ ज्ञान जैसा ही प्रतीत होता है। इसलिए यथार्थ ज्ञान के विषय जैसा ही भ्रम-

विषय का भी स्वरूप कम से कम भ्रांति की विद्यमानता-दशा में मानना तर्क-संगत होगा। यदि यथार्थ ज्ञान साधिष्ठान तथा सदधिष्ठान हो तो भ्रांति भी साधिष्ठान माननी चाहिये। भ्रांति-निरास होने पर उसके भासमान् प्रकार का निरास हो जाता है किन्तु उसका अधिष्ठान शेष रह जाता है। (न्यायमत में भ्रम-निरास की उपपत्ति कुछ भिन्न होगी) इस विचार-सरणी में एक गम्भीर दोष यह है कि इसके सभी पुरस्कारक भ्रांति की विद्यमानता-दशा में भ्रांति और यथार्थ ज्ञान को शत प्रतिशत समान मानते हुए भी भ्रम-निरास की स्थिति में भ्रम का आंशिक निरास ही सम्भव मानते हैं। भ्रांति एक विशिष्ट विषयक, अविभक्त तथा अविभाज्य ज्ञान है। उसका निरास पूर्ण निरास ही होगा, आंशिक नहीं। इस कारण यदि अधिष्ठान का भ्रांति में अनुप्रवेश हो तो उसका भी उसके प्रकार के साथ निरास होना अनिवार्य है। संस्कृत की एक कहावत है कि मुर्गी का एक हिस्सा अण्डा देने के लिये और दूसरा पकाने के लिये काम में नहीं लाया जा सकता। इसी प्रकार भ्रांति के विशिष्ट विषय में से अधिष्ठानरूप अंश को रखकर प्रकार-रूप अंश का विलय नहीं किया जा सकता। यथार्थवादी या आस्तिक दार्शनिक यह तथ्य भी भूल जाते हैं कि आभास का अधिष्ठान भ्रांति तथा उसके निरास इन दोनों स्थितियों में समान रूप से अनुस्यूत रहे तो भ्रांति ही नहीं घटित हो पायेगी। एक वस्तु के रूप में अधिष्ठान एक जैसा-ही बना रह सकता है। किन्तु एक ज्ञानमीमांसीय अन्तर्वस्तु के रूप में वह यदि भ्रांति में सन्निविष्ट हो तो भ्रांति-निरासक ज्ञान में वह उसी रूप से सन्निविष्ट नहीं हो सकता। उक्त उदाहरण में रज्जु को उसके सर्पवत् तथा रज्जुवत् आभासों से अलग कर एक सत्य रज्जु के रूप में ग्रहण किया जाय (और ऐसी ही रज्जु को अधिष्ठान माना जाय) तो उसका भ्रांति में अनुप्रवेश नहीं माना जा सकता है।

विशिष्ट बुद्धि में विशेष्य, संसर्ग तथा प्रकार विशेष्य-विशेषण भावापन्न होकर प्रतीत होते हैं इस बात पर से आस्तिक दार्शनिक विशेष्य को अधिष्ठान के रूप में प्रकार से अलग कर यथार्थ तथा अयथार्थ ज्ञानों में उसे समान रूप से अनुस्यूत मानते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि 'रज्जु सर्प है' यह जैसी विशिष्ट बुद्धि है वैसे ही 'यह घट है' यह भी विशिष्ट बुद्धि ही है। इसमें भी विशेष्य को अधिष्ठान के रूप में प्रकार से अलग किया जाय तो 'घटत्व' का घट-रूप अधिष्ठान-निरपेक्ष निरास सम्भव होना चाहिए। ऐसी स्थिति सम्मुख उपस्थित वस्तु को गलती से 'घर' समझने पर प्रस्तुत हो सकती है। इस गलती के निरास के क्षण में घटत्व-रहित शुद्ध घट ही यदि भासमान् हो तो यह ज्ञान प्रकार-रहित होने से निर्विकल्पक मानना पड़ जायेगा। अनंतर क्षणों में घटत्व से अन्य धर्म से युक्त रूप में पुरःस्थित वस्तु प्रत्यय-विषय हो सकती है। बौद्ध दार्शनिक विशिष्ट बुद्धि को प्रामाणिक ही नहीं मानते। निर्विकल्पक ज्ञान ही उनके मतानुसार यथार्थज्ञान है। इस में प्रकार, विशेष्य तथा संसर्ग विशकलित रूप से प्रतीत होंगे या प्रकारमात्र या विशेष्य मात्र ही प्रतीत होगा। ऐसे ज्ञान के लिए अधिष्ठान की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल सर्पमात्र-ग्राही निर्विकल्पक ज्ञान रज्जु में हो सकता है। इसमें रज्जु का विशेष्य के रूप में भी अनुप्रवेश आवश्यक नहीं है।

भाव-प्रतिषेधक अभाव अवस्तु कैसे होगा, ऐसा प्रश्न अब तक के विवेचन के सम्बन्ध में उठाया जा सकता है। अभाव अवस्तु भी हो तो भी वह प्रतिषेधक कैसे होता है, यह प्रश्न भी यहां उपस्थित होगा। अभाव को भाव-भिन्न या सत्ता-रहित पदार्थ कहने से ये प्रश्न हल

नहीं होते । भाव भिन्न होते हुए यदि अभाव वस्तु या पदार्थ है तो उसमें सत्ता (जातिविशेष) न होने पर भी उसकी गणना भाव-पदार्थों में ही करनी पड़ेगी । इस पर एक समाधान संभव है और वह वेदांत में सूचित किया गया है । अभाव 'निरुपाख्य' है, अर्थात् भाव-पदार्थों की जो भी विशेषतायें हैं उनसे वह रहित है । उसके लिए 'है' इस क्रिया-पद का प्रयोग भी अनुपयुक्त है । यदि सभी शब्द किसी न किसी भाव-रूप अर्थ के ही बोधक हैं तो अभाव के लिए कोई 'उपाख्या' या संज्ञा ही नहीं होगी । भाव-प्रतिषेध के लिए अभाव को वस्तु या सत् होने की आवश्यकता नहीं है । यहां एक स्पष्टीकरण कर देना अस्थाने नहीं होगा । 'यहां घर नहीं' इस प्रकार के निषेध विधि-वाक्य-प्रतिपाद्य तथ्य से सम्बन्ध रखते हैं और ये निषेध वाक्य के द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं । इन निषेधों का स्वरूप शाब्दिक है । यहां निषेध्य और निषेधक दोनों वाक्य या वाक्यार्थ हैं । इस निषेध्य-निषेध-भाव से भिन्न ही वस्तु और उसके अभाव का सम्बन्ध है जिसमें निषेधक (या वस्तु-विरोधी) अभाव की किसी प्रकार की सत्ता होती ही नहीं । वस्तु का न होना न वस्तुरूप है न उससे भिन्न किंचित् पदार्थरूप सत् । 'न होना' न होना ही है । उसका इससे अधिक स्वरूप-विलेषण नहीं किया जा सकता ।

यह स्थिति विशेष संतोषजनक नहीं है । इस पर से यह स्पष्ट नहीं होता कि अभाव भाव नहीं तो और क्या है, अथवा वह कुछ है भी या नहीं । बौद्धों ने इसी कारण अभाव को वस्तु-स्वरूप ही मान लिया है । उनके मतानुसार भाव और अभाव में कोई मौलिक भेद नहीं हैं । भाव पदार्थ स्वभावत: ही विनाशशील हैं । इस कारण भी बौद्ध 'वैनाशिक' कहलाते हैं । जो उत्पत्ति-क्षण के पूर्व पूर्णतया असत् है वही उत्पन्न होता है और उत्पत्ति के अनंतर क्षण में ही वह पूर्णतया विनष्ट हो जाता है । उत्पत्ति-पूर्व असत्ता तथा उत्पत्त्यनंतर असत्ता ये दोनों क्षणिक वस्तु-सत के स्वभाव हैं । इन दोनों को अभिन्न भी माना जाये तो कोई असंगति नहीं होगी । इस लेख के पूर्वार्ध में इस मत का कुछ स्पष्टीकरण किया गया है ।

यथार्थवाद अथवा भाववाद से जुड़ा हुआ दार्शनिक सिद्धान्त सत्कार्यवाद है जिसका पुरस्कारक सांख्य माना जाता है । इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति-पूर्व तथा विनाश के अनंतर भी वस्तुएं विद्यमान ही होती हैं । उत्पत्ति तथा विनाश वृद्धि, ह्रास जैसी ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाएं हैं । यदि उपचयापचय वस्तु-विनाशक नहीं माने जाते तो तथाकथित विनाश को भी विनाशक मानने का कोई कारण नहीं है । उत्पत्ति विनाश स्वीकार करने पर वस्तुओं को परिणामिनित्य मानना पड़ता है और इससे कारण-कार्य का भेद समाप्त हो जाता है । यदि सम्पूर्ण विश्व एक ही कारण-परम्परा में अन्तर्भूत हो तो वस्तु मात्र के आंतरिक भेद (कारण परम्परागत होने से) अस्वीकार्य हो जाते हैं । विभिन्न कारण-कार्यों को एक ही मूल कारण की विभिन्न अवस्थाएं मानना तब आवश्यक होता है ।

वैशेषिक असत्कार्यवादी या आरम्भवादी समझे जाते हैं क्योंकि वे उत्पत्ति पूर्व अविद्यमान की ही उत्पत्ति तथा उत्पन्न एवं कुछ समय तक स्थितिमान् पदार्थ का विनाश संभव मानते हैं । किंतु जैसा पीछे विशद किया गया, उत्पत्ति-पूर्व वस्तु का प्रागभाव होता है जो अनादि है और वस्तु के नष्ट होने पर उसीका विनाश विद्यमान होता है जो अनन्त है । ये दोनों एक अर्थ में वस्तु के ही दो छोर पर विस्तार हैं । इन दोनों को लक्ष्य कर प्रत्येक वस्तु

को अपने प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव के रूप में उत्पत्ति-पूर्व तथा विनाशानंतर विद्यमान मान लिया जाय तो सांख्य के समान ही वैशेषिक भी सत्कार्यवादी समझा जा सकता है। प्रागभाव अनादि तथा अपरिवर्तनशील है तो उत्पत्ति पूर्वकालिक वस्तु का सूक्ष्म रूप भी अपरिवर्तनशील मानने में सांख्य को विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यही बात विनाश पर भी लागू होती है।

मीमांसा तो सत्कार्यवादी ही है। वैशेषिकों के आरम्भवाद से उसकी भूमिका में भेद यही है कि मीमांसा वस्तु की शक्ति को उसके पूर्व तथा अनंतर सूक्ष्म रूप से विद्यमान समझती है। वैशेषिक शक्ति-पदार्थ स्वीकार नहीं करते। उसके स्थान में वस्तु के प्रागभाव, प्रध्वंस आदि को संस्थापित किया जाय तो मीमांसा के साथ उस का अनायास मतैक्य हो सकता है। इस प्रकार ये तीनों दर्शन सत्कार्यवादी ही हैं, ऐसा मानने में विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

भाववाद तथा सत्कार्यवाद स्वाभाविक रूप से भौतिक विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त ऊर्जा-सातत्य की याद दिलाते हैं। वस्तुओं में केवल रूप-परावृत्ति (या परिणाम) होती रहती है। प्रत्येक वस्तु में जितनी ऊर्जा संचित रहती है उसका विभिन्न भौतिक-रासायनिक प्रक्रियाओं के द्वारा जो रूप-परिवर्तन होता है उसके फलस्वरूप ऊर्जा का विकीरण ही होता है उपचय, अपचय या विनाश नहीं। जैसे किसी वस्तु या ऊर्जा की निरपेक्ष उत्पत्ति या विनाश सम्भव नहीं वैसे ही निरपेक्ष भेद (दो या अनेक वस्तुओं में) भी सम्भव नहीं। भेद भी एक प्रकार का सम्बन्ध ही है जो वस्तुओं को एक-दूसरे के सम्बन्ध में लाता है। संसर्गाभाव भी आत्यंतिक नहीं है। इस विचार-सरणी का पुरस्कार करने पर हम आधुनिक विज्ञान के यूनीफाइड फील्ड सिद्धान्त के भी निकट पहुँचने का दावा कर सकते हैं। इस सापेक्षतावादोत्तर कालिक सिद्धांत में, सारी वैश्विक प्रक्रियाओं का नियन्त्रण करने वाले गुरुत्वाकर्षण, विद्युत् चुम्बकीयाकर्षण आदि शक्तियों को अपने में समाविष्ट कर लेने वाले एक विश्वव्यापी क्षेत्र की कल्पना पुरस्कृत की गयी है। विभिन्न भारतीय दर्शनों की भाववाद प्रधान विचारधारा का लक्ष्य भी ऐसा ही एक तत्त्व है जिसे वेदांत ने ब्रह्म यह अन्वर्थ संज्ञा दी है। यह तत्त्व बृहत्त्व का सार अर्थात् सर्वसमावेशी, सर्वाधिष्ठान-भूत, अनन्त सत् है जिसमें देश-काल की भिन्नता भी विलीन हो जाती है।

विगत कुछ शताब्दियों में विज्ञान का जो विकास होता रहा है वह दार्शनिक विचारों या सिद्धान्तों से अछूते रह कर स्वतन्त्र रूप से विज्ञान के अपने विचारों की गति के फलस्वरूप ही घटित हुआ है, ऐसा सामान्यतया समझा जाता है। यह बात सही भी हो सकती है। तब यह अतीव विस्मयजनक तथ्य है कि आज दो-तीन हज़ार वर्षों की विकास-प्रक्रिया के फलस्वरूप दर्शन और विज्ञान (विशेषतया भौतिक) भाववाद तथा सातत्यवाद का समानतया मूलभूत सिद्धांतों के रूप में पुरस्कार करें। दार्शनिक कभी विश्लेषणात्मक तो कभी संश्लेषणात्मक विचार-पद्धति से आगे बढ़ता रहा है। विज्ञान तो बराबर प्रयोग-निरीक्षणात्मक अध्ययन-पद्धति के बल पर ही अब तक विकास करता रहा है। यह भेद होते हुए भी दोनों विचार-प्रणालियों की परिणति लगभग एक-जैसी ही हो यह बहुत अश्चर्यकारक बात है।

इससे बढ़कर आश्चर्यकारक बात यह है कि दर्शन में एक दूसरी दृष्टि या सिद्धान्त

भी प्राचीन काल से चर्चित होता आ रहा है जिसकी ओर न दार्शनिकों का न वैज्ञानिकों का ही विशेष ध्यान-आकृष्ट हुआ है। यह है अभावाधारित या असातत्याधारित दृष्टि जो विनाश, असत्ता, असातत्य, शुद्ध क्षणभंगुरता अथवा शून्यता को ही एकमेव मौलिक तथ्य मानती है। इस दृष्टि के अनुसार सत्ता, स्थैर्य, सातत्य आदि जो वस्तुमात्र में दृष्टिगोचर होते हैं वे केवल वासना-प्रसूत विकल्प या मानसिक संस्कार हैं और वस्तुसत् पर आरोपित होते हैं। इस आरोपण-प्रक्रिया या वासना के मूल में जो आत्मा है वह भी असत्, अनात्म, क्षणभंगुर अथवा शून्य ही है। असत ही सर्वत्र व्याप्त है और अलात से अलात चक्र के समान असत् से सत् की उत्पत्ति तथा अपरिमेय विस्तार होता रहता है। यह दृष्टि हमें अनिवार्यतः बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पादवाद की ओर ले जाती है। कार्यकारणभाव-प्रक्रिया को न्यूनतम सम्भाव्य इकाइयों (आलंबन, अधिपति समनेतर आदि) में विभक्त कर उसे पूर्वापर भावापन्न क्षण-संतान के रूप में देखना, यह प्रतीत्यसमुत्पादवाद की विशेषता है। इसके ठीक विपरीत वह दृष्टि है जो कार्यकारण-भाव प्रक्रिया को आरम्भवाद से आरम्भ कर वेदांत के अधिष्ठानवाद की ओर बरबस ले जाती है और सकल वैश्विक क्रिया-प्रक्रिया-जाल को ब्रह्म या समविन्त क्षेत्र में विलीन कर देती है। पहली दृष्टि मृत्यु को जीवन की प्रकृति मानती है जबकि दूसरी दृष्टि उसे विकृति समझती है (मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः)। प्रतिक्षण मरते रहना, अर्थात् अतीत को पूर्णतया समाप्त या निरन्वय विनाश कर सर्वथा नये रूप से प्रतिक्षण सजीव बने रहना और इस मृत्यु-परम्परा को बराबर बनाये रखना यही जीवन की वास्तविकता है, यही दूसरी जीवन-दृष्टि की सीख है। मनुष्य-स्वभाव अतीत के बोझ को ढोते चले जाना है। यह दृष्टि हमें प्रतिक्षण अतीत को पूर्णतया समाप्त कर आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। इस दृष्टि की ओर हमने अब तक केवल दृष्टिपात ही किया है उसकी दार्शनिक तथा वैज्ञानिक संभावनाओं को अंशतः भी उद्घाटित नहीं किया है।

वेदांत, बौद्ध तथा अस्तित्ववादी दर्शन-संप्रदायों में कुछ मात्रा में इस दृष्टि के परिष्कार का कुछ प्रयास किया दिखाई पड़ता है। वेदांत का ब्रह्माधिष्ठानवाद तो भाववाद का अन्तिम परिपाक है किन्तु अपने मूलभूत प्रत्यय के स्पष्टीकरण के लिए वेदांत ने शुद्ध अभाव प्रत्यय का पूर्णरूपेण प्रयोग किया है। आत्मा को किसी भी गुण-धर्म आदि के द्वारा परिभाषित करना या जानना असंभव है क्योंकि वह स्वयं जानने, समझने आदि की क्रियाओं का कर्त्ता अथवा साक्षी है। जानने की क्रिया का भी वह साक्षी है। उसको जानने के लिए सभी अन्य ज्ञेयों का क्रमिक (या एकदम पूर्ण) अपवारण अपेक्षित है। यह भी कह सकते हैं कि आत्मज्ञान में प्रगति अन्य (तथाकथित) ज्ञानों के क्रमिक निरास स्वरूप ही है। सभी विषयों का पूर्ण निःशेव निरास, जिसे दग्धेंधन अग्नि की उपमा वेदांत ने दी है, ही आत्मज्ञान है। इस निरास के अस्पष्ट स्मृति के रूप में भी विषय शेष नहीं रहते और आत्मा का निरासपूर्व स्थिति से किसी प्रकार का सातत्य नहीं रहता। यही नहीं, स्वयं विषय-निरास भी निश्शेष हो जाता है। अभाव की शुद्ध पर्युदासरूपता अथवा प्रतिषेधरूपता का उपयोग किये बिना वेदान्तीय आत्मतत्वा-विषयक अवधारणा को समझना अतिव कठिन है।

महायान बौद्ध दर्शन ने सर्वप्रपंचोपशम, सर्वधर्मशून्यता, चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य जैसी पारिभाषिक पदावली का प्रयोग कर जिस वर्णनातीत, विचारातीत तत्त्व की ओर इंगित

किया है वह भी निरपेक्ष अभाव-संप्रत्यय की सहायता से ही ग्रहण-योग्य है। अन्यथा माध्यमिक कारिका में ही प्रस्तुत की गयी शून्यता सम्बन्धी भ्रांतियों तथा विपर्यासों से छुटकारा नहीं हो पायेगा : 'शून्यता यदि कुछ है तो उसको अपनाना ही शून्यता का व्याघातक होगा; यदि वह कुछ भी नहीं तो उसका युक्तियों से समर्थन करना कोई अर्थ नहीं रखता।' 'शून्यता स्वयं एक ग्राह है। सर्वदृष्टि-शून्यता भी एक दृष्टि ही है।' इस प्रकार के सब सम्भाव्य प्रश्नों का उत्तर अभाव के स्वरूप को यथावत् जानने से प्राप्त हो सकता है। शून्यता स्वयं कुछ नहीं है। न वह वस्तु है, न क्रिया या कोई अवस्था है, दृष्टियों या धर्मों की शून्यता वैसी ही है जैसे स्वप्नानुभूत घटनाओं का जागृति के साथ पूर्णतया विलीन हो जाना। (यह उपमा उतनी उपयुक्त नहीं है जितना उसे होना चाहिए। किन्तु दूसरी पूर्णतया उपयुक्त उपमा उपलब्ध भी नहीं है)। अस्ति, नास्ति, अस्ति तथा नास्ति, अस्ति अथवा नास्ति ये जो चार व्यवहार-कोटियां हैं उनमें से किसी एक, दो या तीन का सामान्य प्रतिषेध (यदि वह एक-साथ सम्भव हो) चार में से किसी एक कोटि में ही पर्यवसित होगा। किन्तु निरपेक्ष प्रतिषेध सब कोटियों का निरासक होकर भी आत्म-विश्रांत ही रहता है।

फिनॉमिनलोजी—संप्रदाय के आधारभूत प्रत्यय भी निरपेक्ष प्रतिषेध (या अभाव) की सहायता से ही यथावत् प्रस्तुत किये जा सकते हैं। फिनॉमिनलोजीवाद-पुरस्कृत शुद्ध विषयी विषय के अपवारण से ही जाना जा सकता है। यह अपवारण सामान्यतः सम्भव नहीं है। एतदर्थ विषयाभिमुख मनोवृत्तियों में क्रमशः विषयपराङ्मुखता निर्माण करना आवश्यक होता है। इस पराङ्मुखता के अनेक स्तर हैं। प्रत्येक स्तर पर प्रथम रिक्तता का और बाद में पूर्णता का अनुभव उच्चस्तरीय विषय के अनुसंधान से घटित होता है। विषयपराङ्मुखता की चरम परिणति शुद्ध निर्विशेष विषयी के अनुभव में संभाव्य है। सर्वविध विषय-शून्यता इस अनुभव का अधिष्ठान है। वेदांत भी क्रमिक विषयापवारण की प्रक्रिया द्वारा आत्म के निर्विशेष रूप को समझने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया को वेदांत में अध्यारोपापवाद की प्रक्रिया यह संज्ञा दी जाती है। वेदांत के अनुसार आत्मज्ञान-साधना की प्रक्रिया आत्म-प्राप्ति में पर्यवसित होने वाली प्रक्रिया है। फिनॉमिनलोजी-सम्प्रदाय के लिए आत्म सर्वदैव एक साध्य, भाव्य एवं असिद्ध वस्तु है जिसकी खोज कभी समाप्त नहीं हो सकती। विषय या विश्व से आत्म इसीलिए भिन्न है कि विश्व पूर्वसिद्ध तथा भूत है जब कि आत्म सर्वदैव संभावनात्मक बना रहता है। अभाव-संप्रत्यय को निरपेक्ष शून्यता या अत्यन्ताभाव के समान भाव्यता या शुद्ध संभावना के साथ भी जोड़ा जा सकता है। आत्म भूत न होकर भाव्य है या भव्य है ऐसा कहने का मतलब होगा कि आत्म पूर्वसिद्ध, ज्ञेय, परिभाष्य ऐसी वस्तु नहीं है। परिभाष्यता के सम्बन्ध में यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सभी विषय विभिन्न स्वगत-परगत धर्मों के द्वारा परिभाष्य हैं। ये धर्म वस्तुगत होने पर भी वस्तुरूप नहीं होते न ही वे वस्तु से सदैव जुड़े रहते हैं। उदाहरणतः विचार-क्षमता मनुष्य का विशेष धर्म अवश्य है किन्तु वह मनुष्य मात्र में और सर्वदैव विद्यमान नहीं रहती। अविचारी मनुष्य भी होते हैं और विचारी मनुष्य भी सोये होने पर विचार नहीं करते रहते। ऐसी ही न्यूनताएं अन्य वस्तुगत धर्मों में भी पायी जायेंगी। इस पर से यह स्पष्ट हो जायेगा कि कोई भी सामान्य परिभाषा परिभाषित वस्तु के लिए अत्यन्तानतिरिक्त रूप से पर्याप्त नहीं हो सकती। अस्तित्ववाद में धर्मों का अपवारण

कर धर्मी की खोज का जो प्रयास किया जाता है वह धर्मों की उक्त न्यूनताओं के कारण ही। अपरिभाष्य आत्म अधिक से अधिक स्वलक्षण या, अधिक सही शब्दों में, स्वप्रकाश माना जा सकता है। इस स्वप्रकाशता का ग्रहण या अनुभव (अथवा स्वानुभव) स्वप्रकाश हो कर ही प्राप्य है। यहां अनुभव ही परिभाषण है। अभाव-प्रत्यय को आत्मा के स्वानुभव का अधिष्ठान मानना सम्भव है।

प्रोफेसर्ज़ कोलोनी, हनुमान नगर,
नागपुर

उन्मीलन : वर्ष २, अंक २
जुलाई १९८६

३

जि. कृष्णमूर्ति

(१८९५–१९८६)

महेशकिशोर

"मृत्यु का क्या अर्थ है? सर्वस्व छोड़कर चले जाना। सारे सम्बन्धों से मृत्यु मानो एक तीखी धार वाले अस्त्र की तरह काट कर अलग कर देती है : देवताओं से, अन्धविश्वासों से, चाहनाओं से, सुख-चैन से, सभी से मुक्त कर देती है। उन सभी चीजों से जिन्हें मनुष्य आजीवन संचित करता रहता है मृत्यु पूर्णतया विलग कर देती है। तब न कोई राग-सम्बन्ध रहता है, न कोई देवता, न कोई भविष्यत् और न कोई भूत। आपको न तो इस स्थिति के सौन्दर्य का दर्शन हुआ है और न इसकी महत्ता का अहसास, और न ही आपको इस बोध की असाधारण शक्ति का अनुमान है..............प्रेम और मृत्यु सहयोगी हैं। प्रेम तभी हो सकता है जब स्वतन्त्रता हो। इस स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी पत्नी से, या किसी नये काम से, या नव-विवाहित पति से स्वतन्त्रता नहीं है, अपितु इससे तात्पर्य है सम्पूर्ण मुक्ति के संवेदन से, उसकी महान् शक्ति व ऊर्जा से।"

ऐसे विचार कृष्णमूर्ति ने ! जनवरी, १९८६ को मद्रास–स्थित कृष्णमूर्ति फाउंडेशन आफ इंडिया के मुख्यालय 'वसन्त-विहार' के वृक्षों से ढँके हुए प्रांगण में एक वार्ता में जन-समुदाय के सामने रखे थे।

१९८५–८६ के शीत-काल में जब कृष्ण जी तीन महीने के लिए भारत आये हुए थे तब वे प्रायः ही अपनी मृत्यु की चर्चा किया करते थे। मृत्यु से उन्हें कोई भय नहीं था। उन्होंने एक बार कहा : "मैं ९० वर्ष का हो गया हूं और यह पर्याप्त है। मैं हमेशा मृत्यु और जीवन दोनों को साथ-साथ रख कर ही जिया हूं।" केलीफोर्निया जाने से पहले वसन्त-विहार, मद्रास में एक शाम को उन्होंने एक मित्र से कहा : "डा. डायट्रश्च् मेरे केलीफोर्निया पहुंचने के एक सप्ताह बाद मेरी जाँच करेंगे। यदि उन्होंने जाँच के बाद कहा कि बस अब यात्रा करना, वार्ता देना बन्द, तो सब कुछ समाप्त है, यह शरीर तब चार सप्ताह में ही मर जायेगा।"

कृष्णजी ने १०–११ जनवरी की मध्य रात्रि को मद्रास में केलीफोर्निया के लिए प्रस्थान किया। उस रात जिन लोगों ने उन्हें वसन्त-विहार की पहली मंजिल के कमरे से सीढ़ियां

उतर कर नीचे आते हुए और बाहर प्रतीक्षा करती हुई कार में बैठते देखा था वे कभी भूल नहीं सकते उस समय उनके व्यक्तित्व से फूटती हुई कान्ति को। वे शारीरिक रूप से कमज़ोर अवश्य दिखते थे किन्तु उनके चारों ओर एक आध्यात्मिक – धार्मिक ओज बिखर जैसा रहा था।

२० जनवरी को अमरीकी डाक्टरों ने जाँच के बाद ऐसा अनुमान किया कि शायद उनके यकृत में कैंसर है। वे सेंटा पॉला मेमोरियल अस्पताल में २२ जनवरी को विस्तृत जांच के लिये भरती हुए। २६ जनवरी को यह निश्चित हो गया कि उन्हें अग्न्याशय (पेंक्रियाज़) का कैंसर है और वह यकृत तक फैल चुका है। कृष्ण जी ने तब तुरन्त ही अपने शेष दिन ओहाई-स्थित अपनी कुटीर में ही व्यतीत करने का निश्चय प्रकट कर दिया और वे ३० जनवरी को अपनी कुटीर में आ गए।

कृष्ण जी की मृत्यु १७ फरवरी को हुई। वे १६ फरवरी की रात तक सोने के पूर्व पूर्ण चेतनावस्था में थे। आधी रात के १० मिनट बाद वे निद्रावस्था में ही इस संसार को छोड़ गये। उस शान्त पार्थिव शरीर के होठों पर एक ऐसी आकर्षक हल्की सी मुस्कान थी जो अपनी सुन्दरता में मानो मृत्यु का स्वागत कर रही हो।

उस दिन कैलीफोर्निया की ओहाई नामक वह घाटी, जिसकी ऊंची-नीची पहाड़ियों पर उन्होंने अपनी युवावस्था में खूब विचरण किया था, घने बादलों से ढँकी हुई थी। अपनी मृत्यु के कुछ ही दिनों पूर्व उन्होंने अपनी निकटतम मित्र श्रीमती पुपुल जयकर से, जब वे उनके पास बैठी हुई थीं, अपने दर्द के बीच हँसते हुए कहा था : "मैं पहाड़ियों में सुदीर्घ दूरियों तक गया था, वहां धुँधला कोहरा छाया हुआ था।"

जब स्टेशन-वैगन में उनके पार्थिव शरीर को अन्तिम दाह-संस्कार के लिए ले जाया गया तब बतखों का एक बड़ा झुंड 'V' (वी) के आकार में स्टेशनवैगन के ऊपर से जाता हुआ दिखाई दिया। कुछ घंटों बाद जब उनकी अस्थियां रजत-कुम्भ में रखी जा रही थीं, सूर्य एकाएक बादलों से निकल आया और वह कुम्भ तथा दाह–कक्ष का आंगन एक सुनहरे प्रकाश से भर गया।

इस प्रकार कृष्णमूर्ति की जीवन-कथा का समापन हुआ, एक ऐसी कथा का समापन जो हमेशा रहस्यमय बनी रही थी। कृष्णमूर्ति का भौतिक शरीर अब हमारे बीच में नहीं है किन्तु उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग अवश्य हमारे सामने है।

II

उनके जीवन की मुख्य घटनाएं : १८९५ में आन्ध्रप्रदेश के मदनपल्ली कस्बे में उनका जन्म; १९०९ में थियोसोफिस्ट लेडबीटर द्वारा मद्रास के अडयार समुद्र-तट पर उनकी एक प्रतिभाशाली बालक के रूप में खोज; थियोसोफिकल सोसाइटी की अध्यक्ष डा० एनी बेसेंट द्वारा मातृवत् वात्सल्य देकर उनके लालन-पालन और शिक्षा का दायित्व ग्रहण करना, १९११ में "आर्डर आफ द स्टार इन द ईस्ट" की स्थापना व कृष्णमूर्ति को इसका अध्यक्ष बनाया जाना, १९२२ में केलीफोर्निया में ओहाइ स्थित कुटीर में उनके अनुभव, १९२५ में उनके छोटे भाई नित्या की मृत्यु, १९२९ में कृष्णमूर्ति द्वारा 'आर्डर आफ द स्टार' संस्था को बन्द करना और १९३३ में डा० एनी बेसेंट की मृत्यु के बाद थियोसोफिकल सोसाइटी से सम्पूर्ण सम्बन्ध-

विच्छेद--ये सब उनकी सुपरिचित दास्तान् के अंग हैं। उनकी विस्तार से चर्चा करना अनावश्यक प्रतीत होता है।

अपने जीवन पर जिन दो प्रभावों को कृष्ण जी स्वयं महत्त्वपूर्ण मानकर स्वीकार करते थे वे थे "प्यारी अम्मा" के रूप में डा० एनी बेसेंट व छोटा भाई नित्या। १९०९ में पहली बार मिलने के बाद से ही डा० एनी बेसेंट और कृष्णमूर्ति दोनों गहन पारस्परिक स्नेह-सम्बन्ध में बँध गये थे। एनी बेसेंट को कृष्णमूर्ति की प्रसन्नता व कल्याण के लिए कुछ भी त्याग कर देना मुश्किल न था। वे थियोसोफिकल सोसाइटी की अध्यक्षता तक को कृष्णमूर्ति के साथ पूर्णरूप से रह सकने के लिए छोड़ने को तैयार थीं। डा. बेसेंट ने अनेक अवसरों पर कृष्णजी के उज्ज्वल भविष्य के विषय में चर्चा की। १९२६-२७ में वे कुछ महीनों तक कृष्णमूर्ति के साथ ओहाई में रहीं। मई १९२७ में ओहाई से लन्दन जाते हुए उन्होंने लिखा : "मैं और कृष्णमूर्ति यहां कुछ समय साथ रहे हैं ; हम दोनों ने एक दिव्य दृश्य देखा है। एक ऐसा दिव्य दृश्य जो असीम है, अनन्त है और आंखों में चकाचौंध पैदा करने वाला है।" इसी सम्बन्ध में उन्होने एक सार्वजनिक बयान में कहा : "जगद्गुरु हमारे बीच में उपस्थित है।" १९२८ में अड्यार (मद्रास) में एक जनसभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा : मैंने उन्हें बचपन से जाना है, उनके आध्यात्मिक विकास को, उनमें देवत्व को विकसित होते देखा है। मैं कृतज्ञता पूर्वक अपने आपको उनकी शिष्या के रूप में समर्पित करती हूं। उनका सामीप्य आनन्द-जनक है। उनकी चर्चाओं को सुनकर अपूर्व सुख मिलता है; उनकी भाषा ललित है और विचार सारगर्भित।"

कृष्णजी के थियोसोफिकल सोसाइटी की सदस्यता से इस्तीफा देने के बावजूद डा. एनी बेसेंट उन्हें सोसाइटी के वार्षिक अधिवेशनों में बराबर अभिभाषण-हेतु आमंत्रित करती रहीं। १९३३ की एक संगोष्ठी में जब उनसे उनकी "महान् माता व मित्र" डा० एनी बेसेंट के बारे में पूछा गया तो कृष्णजी ने कहा : "महाशयो, मैं क्या कहूं, डा० बेसेंट मेरी मां हैं, उन्होंने मेरा लालन-पालन किया है, लेकिन एक बात उन्होंने कभी नहीं की, उन्होंने मुझसे यह कभी नहीं कहा कि 'यह करो', 'यह मत करो।' 'मुझे उन्होंने हर कार्य के लिए स्वतन्त्र छोड़ा। इन शब्दों में मेरी उनके प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि समाहित है।" अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में कृष्णजी को प्रायः डा० एनी बेसेंट की महानता, उनके स्नेह और बुद्धिमत्ता के विषय में चर्चा करते हुए सुना गया। वे डा० बेसेंट के बनारस के थियोसोफिकल सोसाइटी कम्पाउण्ड-स्थित निवास-स्थान 'शान्ति कुंज' के बारे में अक्सर पूछताछ करते थे। १९०५ के नवम्बर मास में कृष्णजी बनारस आये थे। यह उनकी इस प्राचीन नगर की अन्तिम यात्रा थी। बनारस में अपने प्रवास-काल में गिरते हुए स्वास्थ्य के बावजूद वे श्रीमती राधा बर्नियर, जो थियोसोफिकल सोसइटी की वर्तमान अध्यक्ष हैं, के साथ 'शान्ति-कुंज' गये। कृष्णजी वहां लगभग ५० वर्ष बाद गये थे। उन्होंने कुछ समय डा. बेसेंट के कमरे में बिताया और फिर वे उस बड़े हाल में गये जहां उनके किशोर जीवन की स्मृतियां २८ दिसम्बर १९११ के उस दिन से जुड़ी हुई थीं जब उनके भविष्यत् की एक झलक की अनुभूति पहली बार उपस्थित जनसमुदाय को हुई थी।

उनके भाई नित्या उनसे लगभग ३ वर्ष छोटे थे परन्तु वे उनके अंतरंग सखा थे-बचपन से

ही। डा. बेसेंट ने कृष्णजी के साथ-साथ ही नित्या को भी अपने संरक्षण में ले लिया था। ऐसी मान्यता थी कि नित्या कृष्णजी की जगद्-गुरु भूमिका में एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बटायेंगे। परन्तु नवम्बर १९२५ में ओहाई में नित्या की मृत्यु क्षय रोग से हो गई। इस घटना से कृष्णजी का अंतर हिल-सा गया; उन्हें असीम वेदना हुई; दुःख ने उनके अंतरतम को छू लिया और तब उन्हें जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टि मिली।

नित्या की मृत्यु के कुछ मास बाद कृष्णजी ने लिखा था : "जब मेरे भाई की मृत्यु हुई, मुझे ऐसा लगा कि मैं खो गया हूं। दो-तीन दिन या शायद एक सप्ताह तक मेरी क्या स्थिति रही इसका कोई अन्दाज़ भी नहीं लगा सकता। मैं आज भी उसके अभाव को महसूस करता हूं। भौतिक रूप से उसका अभाव मेरे लिए सदैव रहेगा, परन्तु मैं अब यह अनुभव करता हूं कि वह और मैं एक ही रास्ते पर, एक ही पर्वत-शृंखला पर, प्रकृति के एक ही दृश्य का अवलोकन करते हुए, एक ही आकाश के नीचे, एक ही बादलों और वृक्षों के बीच, साथ-साथ चल रहे हैं। यही कारण है कि मुझे लगता है मानो मैं और नित्या एक-दूसरे के हिस्सा हैं।"

१९३३ में एक बार फिर एक सभा में प्रश्नोत्तर के दौरान उन्होंने कहा: "जब नित्या बीमार था मैं रात-रात भर जागता रहता था और तारों को क्षितिज में अपना मार्ग तय करते हुए निहारता रहता था—इस विश्वास के साथ कि कदाचित् ये मेरे भाई का जीवन बचा लें। मैं दिन के समय प्रत्येक वृक्ष की छाया का अवलोकन करते हुए उससे पूछता था कि क्या वह मेरे भाई की जीवन-रक्षा कर सकेगा? लेकिन ऐसा नहीं हुआ और मैंने देखा कि जीवन ऐसी सत्ता है जिसकी अनेक अभिव्यक्तियां हैं। मुझे भान हुआ कि जब तक मैं अपने-आपको अपने भाई से अलग मानता हूं, अर्थात् उस ज़िन्दगी को जो उसका हिस्सा है अपनी ज़िन्दगी से अलग मानता हूं, तब तक मैं अन्य उपायों से केवल एक क्षणिक राहत ही प्राप्त कर सकूंगा। मैं प्रत्येक पथिक से यह प्रार्थना करता था और पूछता था कि यह कैसे हुआ? लेकिन मुझे जिस क्षण यह भान हुआ कि जीवन अपने विविध रूपों में अपने को किस प्रकार अभिव्यक्त करता है, तब मेरा दुःखी होना समाप्त हो गया। दुःख से ही वस्तुतः ज्ञान की सुगन्ध निकलती है। असीम करुणा और अगाध प्रेम दुःख से ही प्राप्त हो सकते हैं, चाहे वह दुःख भाई की मृत्यु के रूप में आये या किसी ऐसे व्यक्ति के दुःख से जिसे आप प्रेम करते हैं। यह न समझिये कि यह दृष्टिकोण जीवन की कठोरता का पक्ष है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। यह एक सामान्य पक्ष है, सरलतम मार्ग है जीवन को समझने का—और यही एक दिव्य मार्ग भी है।"

कृष्णमूर्ति ने दुःख का स्पर्श किया और उसकी उत्पत्ति और उसके अवसान को समझ लिया : "मैं तुम्हें दुःख दिखाता हूँ और उसके अवसान का मार्ग भी।"

III

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ओहाई में कई एकाकी वर्ष बिताकर लगभग १० वर्ष उपरान्त कृष्णजी १९४७–४८ में भारत लौटे और तब से वे सारी दुनियां में घूम-घूम कर अपनी वार्ताओं से अपने समीप आने वाले अनगिनत पीड़ित और संघर्ष कर रहे दुःखी मनुष्यों के मन का बोझ हल्का करते रहे। केलीफ़ोर्निया की ओहाई घाटी के शांत प्रदेश में अकेले विचरण करते हुए उनका दृष्टिकोण विकसित हुआ था। कृष्णजी जनसंख्या के विस्फोट

से उत्पन्न होने वाले अभूतपूर्व संकट से, इलेक्ट्रोनिक्स, कम्प्यूटर, जननकण-विषयक (जेनेटिक) अभियांत्रिकी, अणु-तकनीकी के क्षेत्र में हुई अद्‌भुत प्रगति से उत्पन्न खतरों से भी परिचित हुए। सारे विश्व में प्राणि मात्र के लिए जिन संकटों का वातावरण जाति, धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्रीयता की सीमाओं और उनसे जनित संघर्षों ने पैदा कर दिया था उस पर भी उनका ध्यान आकर्षित हुआ। जहां जहां भी वे गये उन्होंने अपनी वार्ताओं के माध्यम से जन-समुदाय को उन खतरों से सावधान किया।

कृष्णजी प्रायः मानवीय दुःख, भय, मृत्यु, प्रेम और धार्मिक संस्थाओं के विषयों को लेकर ही बोलते थे। उनके जीवन-दृष्टिकोण का सार २१ अक्तूबर, १९८० में उनके स्वयं द्वारा लिखित बयान में है। उन्होंने लिखा था :

"मेरे विचारों का सार सन् १९२९ में मेरे द्वारा दिये गये इस कथन में निहित है कि "सत्य एक पथहीन प्रदेश है।" मनुष्य सत्य की प्राप्ति न किसी संगठन, सम्प्रदाय, पंथ से न किसी अभिनिवेश, पुरोहित या कर्मकाण्ड के माध्यम से कर सकता है, न किसी दार्शनिक ज्ञान अथवा मनोवैज्ञानिक प्रविधि द्वारा उसे प्राप्त कर सकता है। बौद्धिक विश्लेषण या आत्म-परीक्षणात्मक विवेचन से भी सत्य को नहीं पाया जा सकता। आपसी सम्बन्धों के दर्पण द्वारा और अपने मानस-तत्त्व के अवबोध द्वारा तथा सहज अवलोकन से ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य ने अपने मस्तिष्क में सुरक्षा-प्राचीरों की तरह नाना प्रकार की धार्मिक, राजनीतिक और वैयक्तिक प्रतिमाओं की चहारदीवारी खड़ी कर रखी है। ये प्रतीकों, विचारों और विश्वासों के रूप में प्रगट होती हैं। मनुष्य के चिन्तन, सम्बन्धों तथा दैनन्दिन जीवन पर इनकी गहरी छाप हावी रहती है। ये हमारी समस्याओं की कारण हैं क्योंकि ये प्रत्येक सम्बन्ध में मनुष्य को मनुष्य से अलग करते हैं। मानव को अपने जीवन का बोध उन प्रत्ययों के माध्यम से होता है जो इसके अन्तर में पहले से जमे रहते हैं। उसकी चेतना की अन्तवृत्तियों का निर्माण उसका संपूर्ण अस्तित्व करता है। यह चेतना मानव मात्र में समान रूप से व्याप्त है। व्यक्तित्व एक नाम-रूप तथा सतही सांस्कृतिक आरोप है जिसको मनुष्य अपने पर्यावरण से प्राप्त करता है। व्यक्तित्व की विशेषता उसके उथले शील-संस्कार में नहीं बल्कि उनसे पूर्ण रूप से छुटकारा पाने में है।

"मुक्ति किसी किस्म की प्रतिक्रिया नहीं है। मुक्ति कोई इष्ट-अनिष्ट में चुनाव भी नहीं है। मनुष्य की स्वतन्त्रता उसकी श्रेय-प्रेय के बीच वरण करने की सामर्थ्य में है—यह विचार केवल भ्रम है। मुक्ति केवल अवलोकन है, सहज अवधान है, जिसका न कोई लक्ष्य है और न उसके साथ कोई दण्ड का भय या पुरस्कार का आकर्षण जुड़ा हुआ है। मुक्ति का कोई प्रेरक हेतु नहीं है। मुक्ति मानव-विकास की अन्तिम अवस्था नहीं है। वह तो उसके अस्तित्व का प्रथम चरण है। सावधान अवलोकन से मुक्ति के अभाव का बोध होने लगता है। दैनन्दिन अस्तित्व के विकल्पहीन अवधान में ही मुक्ति निहित है।

"विचार काल ही है। विचार अनुभव और संचित ज्ञान की संतान है जो भूतकाल से भिन्न नहीं है। काल मानसिक स्तर पर मानव का शत्रु है। चूंकि हमारी क्रिया संचित स्मृति-ज्ञान पर निर्भर है इसलिए वह भूतकाल पर आश्रित है और इसी कारण मनुष्य सर्वदा अतीत का दास बना रहता है। इससे हम हमेशा तनावों में, कलहों में फँसे रहते हैं। मनोवैज्ञानिक

भूमिका पर कोई विकास की गुंजाइश नहीं है।

"जब मनुष्य अपनी चेतना की गतिविधि से अवगत हो जाता है तब वह विचार और विचारक, दृश्य और दर्शक, अनुभव और अनुभविता, इस द्वैत का मार्ग देख लेता है। वह जान लेता है कि यह द्वैत एक भ्रान्ति है, और तभी विशुद्ध निरीक्षण होता है। यह निरीक्षण अन्तर्दृष्टि है, जिसे अतीत की छाया का स्पर्श भी नहीं हुआ है। यह कालातीत अन्तर्दृष्टि मन की रचना को गहरे और मूलभूत रूप में परिवर्तित कर देती है।

सम्पूर्ण निषेध ही भाव-रूपता का तत्त्व है। अभिलाषा, उपभोगलिप्सा आदि प्रेम नहीं है। जब उन तमाम चीज़ों का विलय होता है जो प्रेम नहीं हैं तब प्रज्ञा और करुणामय प्रेम का अवतरण होता है।"

IV

कृष्णमूर्ति के विचारों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास निष्फल ही होता है, फिर भी उनके विचार-क्रम में ज्ञान के स्फुलिंग निकलते हैं और अज्ञान के अन्धकारमय क्षेत्र पर प्रकाश डालते हैं। उनकी वार्ताओं को सुनना अपने में एक अभूतपूर्व अनुभव था। उनकी वार्ताओं में किसी एक विषय का पता लगा लेना या वार्ता की योजना और उद्देश्य को पकड़ पाना प्रायः असम्भव-सा था। फिर भी उनकी बिखरी सी लगने वाली बातों की एक अपनी अनूठी गरिमा थी जो मन पर गहरा प्रभाव छोड़ती थी। वे एक ऐसे व्यक्ति की तरह बोलते थे जिसकी दृष्टि किन्हीं ऐसे सुदूर दृश्यों पर टिकी हुई हो जो प्रायः श्रोताओं के लिए अदृश्य रहते थे। अपनी वार्ता के दौरान वे विचार का एक क्षेत्र खोलते हुए निरन्तर दूसरी विचार-शृंखला को आरम्भ कर देते थे और इसी प्रकार विचार-क्रम आगे चलता रहता था। कभी-कभी श्रोता को ऐसा लगता था कि वह विविध आकारों के और आयामों के गहन बादलों के बीच घिर गया है जिनका ओर-छोर पाना उसके लिए असम्भव है। जब एल्डस हक्सले ने उनको स्विट्ज़रलैंड में एक स्थान पर बोलते हुए सुना तो उन्होंने अपने एक मित्र को उसका वर्णन करते हुए लिखा : "आज मैंने अत्यन्त प्रभावशाली चर्चा सुनी। मुझे लगा मानो मैं बुद्ध का धर्मोपदेश सुन रहा हूँ।"

कृष्ण जी अपने श्रोताओं से अपेक्षा करते थे कि वे उनको अपने पूर्वाग्रहों को, शास्त्रों में पढ़े सिद्धान्तों को और धार्मिक गुरुओं व महन्तों के प्रभाव को छोड़कर सुनें। वे बार-बार कहते थे कि वे कोई गुरु नहीं हैं। अपनी चर्चाओं में वे प्रायः ही श्रोताओं को शामिल कर लेते थे और उनसे अपने मानस को पूर्वनिर्धारित धारणाओं से मुक्त करने को कहते थे ताकि वे प्रस्तुत विषय की गहराई में उनके साथ उतर सकें। वे खोज के पथ पर श्रोताओं को सहयात्री बनाकर चलते थे। इसके लिए श्रोता को अपना सम्पूर्ण ध्यान उनकी तरफ केन्द्रित करना होता था। बहुत से बुद्धिजीवी श्रोता उनको सुनते समय सह-सम्बन्धात्मक स्मरण से शास्त्रों में व्यक्त विचारों में संक्रमित हो जाते थे और उनसे उनके विचारों की तुलना करने लगते थे। किन्तु कृष्णमूर्ति इसे अपने विचार को समझने में बाधक मानते और निरंतर इससे बचने के लिए चेतावनी देते रहते थे।

कृष्ण जी ने एक बार अपने दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए कहा था : "सभी मनुष्य

अपने स्तर पर निश्चित रूप से यह जानना चाहते हैं कि इस जीवन का प्रयोजन क्या है। उन्हें यह जानने के लिये सबसे पहले सभी दार्शनिक विचारों से, रूढ़ियों से, मान्यताओं से, धर्मों से, समुदायों से अपने को मुक्त करना होगा। कोई भी व्यक्ति इस सब के बोझ को ढोकर अपने जीवन का प्रयोजन नहीं समझ सकता। सीमित में दुःख है, इस दुख से ही मानवता छुटकारा पाना चाहती है।······मानव की मुक्ति पूर्णत्व की प्राप्ति में है·········दुःख-सुख, अँधेरा-उजाला, आह्लाद-विषाद, इत्यादि द्वन्द्व वस्तुतः एक ही हैं। प्रभाव से पूर्णतया अछूते रहकर ही पूर्णत्व का अनुभव हो सकता है............जिन्दगी से डरो मत, तब मृत्यु का भय भी नहीं रहेगा।

उनका कहना था कि हमें यह समझना चाहिये कि हम क्या खोज रहे हैं और क्यों? अधिकांशतः मनुष्य 'भगवान् को खोजते हैं क्योंकि उनको संसार निरर्थक लगता है, उसे ढूंढते हैं क्योंकि कहा गया है कि वह परिवर्तन से परे है जबकि चारों ओर की सब वस्तुएं परिवर्तित होती रहती हैं; उसे ढूंढते हैं क्योंकि वह मृत्यु से परे है जबकि अन्य सब की मृत्यु अवश्यम्भावी है; क्योंकि वह सच्चिदानन्द है; इत्यादि, इत्यादि। स्पष्ट है कि हमारी खोज की प्रेरणा का स्रोत चारों ओर फैले हुए परिवर्तनशील संसार, उसकी अनित्यता और उसमें निहित दुःख से दूर होकर एक कल्पित आदर्श की शरण में जाने की बलबती इच्छा में है। अतः आदर्श और वास्तविकता में एक संघर्ष बराबर बना रहता है। कृष्णजी का कहना था कि "दुःख, परिवर्तन इत्यादि को ठीक तरह से "समझ" लेने से ही उनका अन्त हो जाता है और यह ठीक समझ (अंडरस्टेंडिग) पूर्ण अवधान से ही मिल सकती है। इसमें कोई खोज नहीं है, कुछ पाने की तृष्णा नहीं है, किसी लक्ष्य पर पहुँचने की इच्छा नहीं है, किसी लक्ष्य को ढूंडा नहीं जा रहा है। अपितु जो 'है' उसको पूर्ण ध्यान देकर समझा जा रहा है। तभी 'अनिर्वचनीय' का, 'अनन्त' का अवतरण होता है।

वे बार-बार कहते थे कि "धार्मिक जीवन किसी पुरानी मृतप्राय परम्परा को नवीन जीवन देकर, उसके अनुसार दैनिक कार्यक्रम बनाकर रहने में नहीं है। हमें इस बात का पूरा बोध होना चाहिये कि हम वास्तव में स्वार्थी हैं हमारा हर कार्य, हर सम्बन्ध स्वार्थमय है, स्वार्थ-प्रेरित है। अपने आपको दैवी मानकर देवत्व का ढोंग रचने से कुछ नहीं बनता। हमें जो वास्तव में "है" उसे ठीक-ठीक वास्तविक रूप से समझ लेना है। "गुण-दोष" कही जाने वाली अपनी प्रवृत्तियों को उचित सिद्ध करने का प्रयत्न करने, या यह विश्लेषण करने से कि जैसे आप हैं वैसे क्यों हैं, भी बात नहीं बनती। पहले पूर्ण अवधान से अपने-आपको 'देख' लेना है और इसी 'देखने' में 'समझना' समाहित है।"

"हम कुछ और बनना चाहते हैं। जहां हैं, जो हैं, उससे बदलकर किसी 'आदर्श' या मानसिक रूपरेखा के अनुसार अपने-आपको ढाल देना चाहते हैं, किसी मंज़िल तक पहूँचना चाहते हैं। जो हम हैं और जो बनना चाहते हैं, जहां हैं और जहां पहुँचना चाहते हैं, इसकी तुलना से सिवाय द्वन्द्व, संघर्ष, और दुःख के कुछ और प्राप्त नहीं हो सकता।" अपने श्रोताओं से वे प्रायः ही पूछते थे कि क्या हम जीवन का ऐसा तरीका ढूंढने का प्रयत्न नहीं कर सकते जिसमें तुलना न हो? वे कहते थे कि अगर यह तुलना का, किसी आदर्श या परम्परा के अनुसार जीवन-क्रम को ढालने का बोझ हम पर न हो तो हम मुक्त जीवन यापन कर सकते हैं। इसके

लिए यह आवश्यक हैं कि जो हम हैं, यानी जो इस समय हमारे संस्कार (कंडीशनिंग) है, उसको हम पूर्ण रूप से देखलें। यहां प्रश्न उठता हैं कि क्या हम बिना 'संस्कारों' के, जो हमारे में दर्शक का निर्माण करते हैं, कुछ 'देख' भी सकते हैं ? वास्तव में दृश्य और दर्शक में कोई अंतर नहीं है। दर्शक ही दृश्य है। इसकी सत्यता के ग्रहण के लिये जीवन को गहराई से टटोलने की आवश्यकता है।

हममें से अधिकांश लोग भविष्य में क्या होना है इस पर अधिक ध्यान देते हैं। यह भविष्यत् की ओर लगी हुई दृष्टि, भविष्यत् को बदलकर कुछ 'बन जाने' की यही वृत्ति काल को जन्म देती है। इस भविष्य से हटकर यदि हम वर्तमान क्षण में पूर्ण रूप से रह पायें तो हम जानेंगे कि वर्तमान के इस क्षण में ही कालातीतता है। पर यह मानव का दुर्भाग्य है कि वह केवल भूत या भविष्यत् में ही विचरता रहता है; वर्तमान का यह क्षण, जिसमें सब 'काल' समाहित है, उसके लिए मानो है ही नहीं।

V

लगभग ५० वर्षों से भी अधिक समय तक कृष्णजी इन्हीं विचारों को अपनी वार्ताओं-चर्चाओं में व्याख्या करते रहे। सिर्फ उनके मुहावरे बदलते रहे। वे कभी अपने श्रोताओं को "अज्ञात के महासागर" में सहयात्री होने का निमंत्रण देते थे और कभी उनके साथ-साथ 'अनिर्वचनीय' के दरवाजे पर दस्तक देने का। उन्होंने धीरे-धीरे अपने व्यक्तिगत अनुभवों के संदर्भों को, जो कई बार उनकी प्रारंभिक वार्ताओं में व्यक्त हो जाते थे, महत्व देना बन्द कर दिया। बाद में उन्होंने प्रायः अपने आपको 'वक्ता' कहकर सम्बोधित करना शुरु कर दिया था। वार्ताओं में कभी-कभी ऐसा लगता था जैसे 'वक्ता' कृष्णमूर्ति के व्यक्तित्व से बिल्कुल अलग हो गया हो।

बहुधा वे अपनी चर्चा में बौद्ध विद्वानों से यह पूछते थे कि अमुक विषय में बुद्ध ने क्या कहा था। वे बुद्ध द्वारा कहे गए शब्दों को यथावत् जानना चाहते थे। १९२८ के 'ओहाई स्टार कैम्प' में भेजे गए एक सन्देश में उन्होंने कहा : मानलो मैं भारतवर्ष में उस समय हुआ होता जब बुद्ध वहां थे और मैंने यह जान लिया होता कि इस पृथ्वी पर एक ऐसा महान् व्यक्ति है जो जीवन के रहस्य को समझ गया है, जिसमें ज्ञान आंशिक नहीं बल्कि पूर्ण है। और यह सब जानकर और अपने अन्तर में ज्ञान की अनन्त प्यास लिये हुए उनके पास पहुंचता, तो क्या मैं उनसे यह कहता कि मेरे पास अभी कुछ कार्य भी करने को शेष है, या मुझे किसी धर्म-विशेष की छाया में रहना है ? क्योंकि उनके पास तो जीवन की सम्पूर्णता थी ?

"बुद्ध ने कोई प्रतिष्ठान नहीं बनाये। उनका कहना था कि कोई भी व्यक्ति किसी को शरण नहीं दे सकता। बुद्ध मनुष्य को मुक्त नहीं करते, वे केवल उसे मुक्त होने के मार्ग का दर्शन कराते हैं।" बुद्ध ने स्पष्ट कहा था कि वे कोई ईश्वर नहीं हैं, जो उनके साथ घटित हुआ है वह पहले भी हो चुका है और भविष्य में भी उनके दिखाये गये मार्ग पर चलने वालों के साथ घटित हो सकता है। बुद्ध ने कोई अपना आध्यात्मिक उत्तराधिकारी भी नामांकित नहीं किया था। ऐसा कहा जाता है कि बुद्ध का अन्तिम समय निकट जानकर जब आनन्द ने उनसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने की प्रार्थना की तब बुद्ध ने कहा : " मैं अपने अन्तिम समय पर पहुँच गया हूं, तुम स्वयं अपने दीप- बनो, अपनी ही शरण में जाओ, किसी अन्य

की शरण न ढूंडो। इस प्रकार तुम अमरत्व के शिखर तक पहुँच पाओगे।" अत: बुद्ध के 'महापरिनिर्वाण' के पश्चात् बौद्ध भिक्षुओं को बिना किसी आध्यात्मिक गुरु के अपने स्वयं के आधार पर ही आगे बढ़ना पड़ा और जो ध्यान वे बुद्ध के व्यक्ति-रूप पर देते थे वह अब उन्हें केवल उनके बताये धर्म पर देने के अलावा उनके पास अन्य कोई चारा न रहा।"

कृष्णजी के विचार भी लगभग ऐसे ही थे और इन्हीं के अनुरूप उनके कार्य थे। १९३१ में "ओमन स्टार कैम्प" में भाषण करते हुए उन्होंने कहा था : "मैं कोई भगवान् होने का ढोंग नहीं रचता। जिन्दगी का लक्ष्य मेरे लिए जीवन की पूर्णता है।.........अवश्य ही एक परम सत्ता इस सृष्टि में है जिसे हर मनुष्य पा सकता है। मेंने, एक मनुष्य ने, उसे प्राप्त किया है। मैं आज यह मानता हूं कि सभी मनुष्य उसे प्राप्त कर सकते हैं, जो सचमुच खोज रहे हैं उन्हें यह प्राप्ति हो सकती हैं।"

१९७६ में तीनों कृष्णमूर्ति–फाउंडेशनों के एक सम्मिलित अधिवेशन में उन्होंने कहा "१९२९ में मैंने कहा था कि सत्य की ओर जाने वाला कोई निर्धारित रास्ता नहीं है। कोई संगठन, कोई धर्म, कोई विश्वास मनुष्य को सत्य की ओर या मुक्ति की ओर नहीं ले जा सकता। उस समय मेंने यह कहा था कि आध्यात्मिक क्षेत्र में किसी का अधिकार नहीं चलता, वहां कोई गुरु नहीं है : आपको स्वयं ही गुरु और शिष्य दोनों होना है।

"इतने वर्षों के बाद आज भी मैं इसी को मानता हूँ। किसी की बात का अन्ध-विश्वास से नकल करने या अपनी पसन्द के कार्यों में लग जाने से कोई मुक्त नहीं हो सकता। मुक्ति तब तक संभव नहीं है जब तक सत्य की प्राप्ति नहीं हो जाती। इन सब वर्षों में दी गई वार्ताओं और चर्चाओं में मेरा मुख्य विचार-बिन्दु यही रहा है।"

उन्होंने आगे कहा: "ये फाउंडेशन (न्यास) केवल यह देखेंगे कि मेरी कही बातें आंशिक या टूटे-फूटे रूप में नहीं बल्कि पूर्ण रूप में और बिना किसी मिलावट के जन-समुदाय तक पहुँचें। फाउंडेशनों को यह अधिकार नहीं है कि वे अपनी ओर से इनके प्रचारक और इनकी व्याख्या करने वाला व्यक्ति नामांकित करें। ये फाउन्डेशंस् किसी साम्प्रदायिक भावना को जन्म नहीं देंगी ; ये कोई पूजा-स्थान नहीं बनायेंगी। इस लगातार विघटित होते हुए विश्व में आज सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यही है कि व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में इन वचनों को किस तरह उतारता है।"

कृष्णजी का लगातार यही कहना था कि वक्ता को भूल जाना चाहिये, केवल कही हुई बातें ध्यान में रखनी चाहिएं। वे कहते थे कि वक्ता का कोई महत्त्व नहीं है लेकिन फिर भी समाज उसे देवता, भगवान बना देता है और उसकी कही बातों को भूल जाता है। वे अपनी मृत्यु के बाद किसी प्रकार के रस्म-रिवाज़ों, रूढ़ियों–प्रथाओं को अपने नाम पर जारी नहीं रखना चाहते थे। उनका एकमात्र उद्देश्य यही था कि उनके वचनों को बिना जोड़-तोड़ के, बिना मिलावट के, निर्दोष रूप में समझा और प्रस्तुत किया जाय।

उन्हें अनेक विशेषणों से मंडित किया गया : जगद्गुरु, मसीहा, क्रान्तिकारी विचारक, इत्यादि। परन्तु स्वंय वे कहते थे मैं एक साधारण व्यक्ति हूं, नगण्य, एक यात्री, एक राहगीर !

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन,

वसन्त विहार

६४, ग्रीनवेज़ रोड, मद्रास-६०००२८

उन्मीलन : वर्ष २, अंक २,
जुलाई १९८६

४

जि. कृष्णमूर्ति : कुछ दार्शनिक जिज्ञासाएं

यशदेव शल्य

कृष्णमूर्ति पर मूलतः मैंने ही उन्मीलन के इस अंक में लिखने का विचार किया था, किन्तु उनके प्रवचनों और संवादों को पढ़ते हुए मैंने अपने को कुछ स्थलों पर शंकाग्रस्त पाया। यद्यपि तब भी यह संभव था कि मैं अपनी शंकाओं को गौण रख कर पहले उनके विचार को ही प्रस्तुत करता और तब उस विचार के विवेचन के प्रसंग में अपनी शंकाओं को भी रखता, किन्तु उसमें भी मैंने पाया कि वे कोई व्यवस्थित विचार प्रस्तुत नहीं करते, वैसा करना आवश्यक भी नहीं मानते, वास्तव में उनकी चिन्ता मनुष्य को विचार और व्यवस्था से मुक्ति दिला कर निरुपाधिक बोध में, भाव-तादात्म्य में, प्रतिष्ठित करना है। यह भी व्यवस्थित विचार के द्वारा हो सकता है, जैसा नागार्जुन में देखा जा सकता है, किन्तु कृष्णमूर्ति वैसा नहीं मानते, वे निषेधात्मक तर्क के बजाय निषेधात्मक संकेतों के द्वारा अपने श्रोताओं को स्वयं देखने को प्रेरित करते हैं। वे विचार, व्यवस्था, विधि सबको अवरोधक, सीमित करने वाला, मानते हैं और ऐसा मानते हुए वे इनका यह स्वभाव दिखाने के लिए इन्हीं का सहारा नहीं लेते, बल्कि अपने सह-चिन्तक श्रोताओं को निरन्तर इनके जाल में फँसने से रोकते हैं। इसके उदाहरण के रूप में यहां हम उनके प्रेम-विषयक एक वार्तालाप की अंतिम पंक्तियां उद्धृत करेंगे। उनके पास दो व्यक्ति आते हैं और पूछते हैं कि "प्रेम क्या है?" इस पर कृष्णमूर्ति उनसे पूछते हैं कि क्या तुम्हें इस शब्द का अर्थ नहीं पता है? क्या तुम इस की परिभाषा चाहते हो? और तब वे उन्हें निरन्तर परिभाषा, विचार-वितर्क, अन्यों के कहे का अनुकरण, इन सब की व्यर्थता दिखाते हुए अंत में कहते हैं—"प्रेम करो, प्रेम क्या है इसे दूसरों के कहे अनुसार, अथवा विचार-वितर्क से, जानने के फेर में नहीं पड़ो। जब तुम प्रेम करोगे तब सब कुछ स्वयं ही ठीक हो जायेगा। प्रेम करो, तब तुम इसके वरदानों को समझोगे। प्रेम क्या है

और क्या नहीं, यह जानने के लिए किसी दूसरे को प्रमाण मत बनाओ।"[1] किन्तु तब भी, मुझे इसमें कुछ सन्देह है, मुझे लगता है कि विचार-वितर्क को, व्यवस्था को, दूसरी तरह भी देखा जा सकाता है। उनकी मूल दृष्टि में मुझे सन्देह नहीं है, और वह एक सहजसिद्ध योगी की दृष्टि होने से विचारणीय नहीं हो कर मननीय ही है. किन्तु उसे दृष्टि का अवधारण संभवतः कुछ भिन्न प्रकार से भी हो सकता है, ऐसा मुझे लगता हैं। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि उस दृष्टि का विचार के स्तर पर ग्रहण भिन्न प्रकार से भी हो सकता है। उदाहरणतः वे विचार को भेद-दृष्टि का जनक देखते हैं। यह उनकी दृष्टि भी है और प्रायः निर्विवाद रूप से स्वीकृत मत भी है। अधिकांश भारतीय दर्शनों में इसे इसी प्रकार देखा गया है, यद्यपि कृष्णमूर्ति इस बात को तत्त्वचिन्तन के सन्दर्भ से निकाल कर व्यवहार के सन्दर्भ में कहते हैं। किन्तु मुझे लगता है कि भेद-दृष्टि विचार का विच्छेदक लक्षण नहीं है, इसका विच्छेदक लक्षण भेदों का आंकलन कर उनका अतिक्रमण करना है, भेद तो जगच्चेतना के मूल में ही हैं, क्योंकि यह चेतना अहंकारमूलक है। किन्तु विचार जगच्चेतना का वह स्तर हैं जिस पर भेद अपने अतिक्रमण के साथ अवस्थित होते हैं।[2]

उनके विभिन्न विवेचनों के सम्बन्ध में इस प्रकार सन्दहे होने, और उनके प्रवचनों में व्यवस्था और व्यवस्था द्वारा अपेक्षित व्यापकता के प्रति उपेक्षा होने से हमने यह उचित समझा कि उनके सम्बन्ध में एक लेख किसी ऐसे व्यक्ति से भी लिखवाया जाय जो उनकी सन्निधि में रहा हो और जिसने सन्देह-मुक्त भाव से उन्हें सुना और पढ़ा हो। प्रथम लेख के लेखक श्री महेशकिशोर ऐसे ही व्यक्ति हैं। मेरे लेख को केवल उनके लेख के पूरक के रूप में ही देखना उचित होगा।

मेरी मान्यता है कि कृष्णमूर्ति विचार से बहुत ऊपर थे। ऐसे व्यक्ति अनेक में से कोई एक रास्ता चुन सकते हैं—१. वे यथावसर विचार के स्तर पर उतर सकते हैं और तब उसके नियमों का पालन करते हुए उस स्तर पर प्रकट अर्थों का अवगाहन कर सकते हैं। श्री अरविन्द ऐसे ही योगी थे। उनके बहुत से ग्रंथों में वैचारिक दृष्टि का वैभव देखा जा सकता है। २. अथवा वे इस स्तर के अनुशासन को अस्वीकार्य मानते हुए यथावश्यकता उसका उपयोग कर सकते हैं। कृष्णमूर्ति इस वर्ग में आते हैं। कोई बुद्ध को भी इस वर्ग में रखने की बात कर सकता है, किन्तु यह उपयुक्त नहीं होगा। यह सही है कि उन्होंने "विचारक" का बाना कभी नहीं अपनाया किन्तु तब भी उन्होंने विचार की एक समग्रात्मक युक्तिमूलक व्यवस्था दी है। इस प्रकार कृष्णमूर्ति एक सर्वथा विशिष्ट वर्ग का निर्माण करते हैं। किन्तु तब भी, उनके कथनों को एक सीमा तक दार्शनिक विचार का विषय बनाया जा सकता है।

कृष्णमूर्ति की चिन्ता का मुख्य विषय, अथवा कह सकते हैं एक मात्र विषय, स्वातंत्र्य है। वे जो भी कुछ कहते हैं उसका प्रत्यक्ष या कुछ परोक्ष सम्बन्ध स्वातंत्र्य से है होता। स्वातंत्र्य का उनका निरूपण अत्यधिक मूलगामी है। यों यह नागार्जुन, वसुबन्धु या शंकर से

---

१० "कम्मेंट्रीज़ ऑन लिविंग, थर्ड सीरीज़" लंदन, विक्टर गोल्लेंज, १९६२, पृ० २१४.

२० इस पर हमने अपनी पुस्तक "सत्ताविषयक अन्वीक्षा" के प्रथम और पंचम अध्यायों में विस्तार से विचार किया है (प्रकाशक-भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली। प्रकाशनाधीन)

भिन्न नहीं है किन्तु यह हमारे दैनिक जीवन से, साधारण व्यवहार से सम्बन्धित है, तत्त्व-चिन्तन से नहीं, और यह इस व्यवहार ही को तत्त्व के स्तर पर स्थापित करता है : ''बाह्य कर्म का स्वातंत्र्य पूर्णतः उस मानस पर निर्भर करता है जो सब प्रकार से भीतरी शास्तियों (ऑथोरिटी) से स्वतंत्र है।......स्वातंत्र्य भीतरी शास्तियों के पूर्ण विराम की अपेक्षा करता है। मन के इस गुण से बाह्य स्वतंत्रता का आविर्भाव होता है, जो स्वतंत्रता विरोध या प्रतिरोध से पूर्णतः भिन्न है।.........अनुशासन सीखने में है, अनुसरण में नहीं। अनुसरण अपनी दूसरे से तुलना करने, अपने को किसी पैमाने से नापने अथवा यह सोचने में है कि मुझे क्या होना चाहिए—किसी हीरो या किसी सन्त के समान।............हिंसा केवल किसी की जान लेने या उसे चोट पहुँचाने में ही नहीं है, यह इस तुलनात्मक भावना में है : 'मुझे किसी अन्य के अनुसार होना चाहिए,' अथवा '। मुझे अपने में सुधार करना चाहिए।' इस भावना में आत्म-सुधार स्वातंत्र्य और शिक्षण का मूलतः विरोधी है।

द्रष्टव्य है कि यह मन को पूर्णतः शांत, निरुद्विग्न करने का मंत्र है, जिसमें मन को अपने आध्यात्मिक संशोधन के, आध्यात्मिक उत्कर्ष के प्रयत्न से भी मुक्त करने का परामर्श है। किन्तु यह स्थिति, मन की यह अवस्था जगद्भाव के पूर्ण उपशम की अवस्था है। यह सिद्ध हो जाने पर फिर कुछ साध्य नहीं रहता; कह सकते हैं कि जब तक यह अवस्था सिद्ध नहीं होती तब तक स्वातंत्र्य असंभव है। किन्तु जब तक यह सिद्ध नहीं होती, जो युग-युगान्तर में किसी विरले व्यक्ति को ही सिद्ध होती होगी, तब तक तो यह साध्य ही है और स्वातंत्र्य के अभाव या भाव की मात्रा को मापने का पैमाना है। अवश्य इस आदर्श का अनुसरण निरुद्विग्न भाव से भी हो सकता है और उद्विग्नता से भी; वैष्णव, जैन और ईसाइ धर्मों में आत्मशोध की उद्विग्नता सिद्धि के लिए अनिवार्य है, सूर का पद—''मो सम कौन कुटिल, खल कामी! भरि-भरि उदर विषय को धावों, जैसे शूकर ग्रामी'' इस भाव का एक ज्वलंत उदाहरण है,[३] गांधी जी हमारे सामने हैं ही। किन्तु उद्विग्नता से हो या निरुद्विग्न भाव से, इसमें कृष्णमूर्ति के शब्दों में ''भाव्यता (टू बी) की दासता'' तो है ही। इस स्थिति में स्वतंत्रता न सही, स्वतंत्रता की साधना तो है ही, स्वतंत्रता का इसे विरोध कैसे कहा जा सकता है? जो भी हो, कृष्णमूर्ति का यह मंत्र 'भारत के तत्त्व' की पराकाष्ठा है। इसका पूर्वाभास बुद्ध के 'मध्यम मार्ग' और कबीर की सहज समाधि में मिलता है। इसका ठीक विपरीत है सार्त्र की चेतना की यह परिभाषा कि ''यह वह है जो यह नहीं है!'' अर्थात् निरन्तर भविष्यत् में स्थित। यह 'पश्चिम का तत्त्व' है। यहां एक और उद्धरण देना सहायक होगा। वे कहते हैं—असत्य से मुक्ति इस मुक्ति को साधने की कामना से नहीं मिलती, यह तब मिलती है जब मन सफलता की चिंता से मुक्त होता है। पहले सब खोजों का अन्त करना आवश्यक है, केवल तभी उसके अवतरण की संभावना हो सकती है जो नाम-रूपहीन है।''[4]

---

३० दि इम्पोस्सिबल क्वश्चन, विक्टर गोल्लेंज, लंदन, १९७२, पृ० २०-२५०

द्रष्टव्य हैं कि उन्होंने गांधी को सबसे बड़ा हिंसक कहा था। पिछले लेख में श्रीमती एनीबेसेंट को श्रद्धांजलि द्रष्टव्य

४० वहीं, पृष्ठ ८

कृष्णमूर्ति का दूसरा मुख्य मंत्र भेद-दृष्टि का निवारण है। इस दृष्टि को भी वे साधारण अर्थ में नहीं, मूलगामी अर्थ में देखते हैं—"जैसाकि हमने कहा, विश्लेषक और विश्लेष्य में भेद है, दर्शक और दृश्य में भेद है, संघर्ष का यही मूल है। जब तुम यह देखते हो तब तुम सदैव एक केन्द्र से ही यह करते हो, अनुभव और ज्ञान की पृष्ठभूमि पर से: "कैथोलिक "मैं", कम्यूनिस्ट "मैं", विशेषज्ञ "मैं" आदि देख रहा है। इस प्रकार दर्शक "मैं" और दृश्य वस्तु में भेद है।··· "जब तुम एक वृक्ष, अपने पति, या पत्नी को देखते हो तब यह विभाजन घटित होता है। इस विभाजन में अनिवार्यतः एक व्याघात (कंट्रेडिक्शन) है। यह व्याघात सब संघर्ष का मूल है। ....क्या तुम ने कभी पृष्ठभूमि से मुक्त होकर देखा है? यह अब करके देखो बन्धु! इस भाव के साथ क्रीड़ा करो। बाहरी वस्तुओं को तन्निष्ठ होकर देखो, नदी का रव सुनो, पर्वत-मालाओं को देखो, देखो इस सब के सौन्दर्य और स्पष्टता को। यह सब "मैं" के बिना देखना पर्याप्त सरल है, अतीत से मुक्त होकर दर्शन मात्र करना। किन्तु क्या तुम इसी प्रकार अपने को भीतर से देख सकते हो, बिना दर्शक के? कृपया अपने को देखो, अपने निर्धारणों को, अपनी शिक्षा को, अपने सोचने के ढंग को, अपने निष्कर्षों को, बिना पूर्वाग्रहों के, **बिना किसी प्रकार की आत्म-निंदा, या (स्वयं को) स्पष्टीकरण देने अथवा (अपने सामने अपने को) उचित ठहराने के प्रयत्न के।**, केवल देखो। जब तुम इस प्रकार देखते हो तब कोई दर्शक नहीं होता, और इसी से न कोई संघर्ष होता है।"[5] यह वसुबन्धु द्वारा विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि में "ग्राह्य-ग्राहक-भेद" को "उपचार" कहने का स्मरण दिलाता है। यह अभिन्न तत्त्व उसके अनुसार "बुद्ध-दृष्टि को ही गम्य" है: "बुद्धानां विषयः।" किन्तु द्रष्टव्य है कि कृष्णमूर्ति का संदर्भ दूसरा है, यह व्यवहार का, कर्म का सन्दर्भ है। इस सन्दर्भ-भेद से मौलिक अंतर पड़ता है। प्रथम के अनुसार मानव-ज्ञान स्वरूपतः ग्राह्य-कात्मक है; यह मिथ्या है किन्तु पारस्परिक व्यवहार में और अपने मन में संघर्ष का, व्याघात का, क्लेश का जनक नहीं है। किन्तु दूसरे के अनुसार यह दैनंदिन के जीवन के स्तर पर क्लेश-जनक है, इसलिए यह त्याज्य है। 'त्याज्य' शब्द कृष्णमूर्ति की भावना के लिए अग्राह्य होने से इसे 'उपशाम्य' भी कह सकते हैं, यह पूर्ण द्रष्टाभाव की साधना का मंत्र है। किन्तु तब प्रश्न उठता है कि क्या यह भेद-निवारण भेद की अनिवार्य पूर्व विद्यमानता को पूर्वकल्पित नहीं करता? एक स्थिति हो सकती है जहां यह भेद हो ही नहीं और परिणामतः उसके निवारण का प्रश्न भी नहीं हो, जैसे वानस्पतिक चेतना में यह भेद नहीं होता, अल्प विकसित चर जीवों में भी यह नहीं होता। कृष्णमूर्ति ने स्वयं भी फूल का इस रूप में उदाहरण दिया है। परिपूर्णता की चर्चा के प्रसंग में उनसे कोई प्रश्न करता है:—

"एक समग्र, पूर्ण, प्रकृतिस्थ व्यक्ति, जो विभक्त नहीं होकर अखंड है, उसके लिए प्रेम करना कैसे संभव है? एक समग्र व्यक्ति किसी विभक्त व्यक्ति से कैसे प्रेम कर सकता है? और पुनः, एक समग्र व्यक्ति दूसरे समग्र व्यक्ति से कैसे प्रेम कर सकता है?" कृष्णमूर्ति इसका उत्तर देते हैं—"तुम कभी समग्र नहीं हो सकते यदि तुम प्रेम को नहीं जानते। यदि तुम समग्र हो—उस अर्थ में जिस अर्थ में हम बात कर रहे हैं — तब दूसरे को प्रेम

---

५० दि ईम्पोसिबल क्वश्चन, पृ० ३३-३४

करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । क्या तुमने कभी सड़क के किनारे खिले फूल को देखा है ? वह सूर्य में, वायु में, प्रकाश और वर्ण के सौन्दर्य में जीता है, वह तुम्हें यह नहीं कहता कि 'आओ और मुझे सूंघो, मेरे सौन्दर्य का पान करो, मुझे देखो; वह जीता है और उसकी जीने की यह क्रिया ही प्रेम है ।"[6]

इसका अर्थ समझना उतना सहज नहीं है । फूल की समग्रता किस बात में है ? अतीत के बोझ और भावी की चिन्ता से स्वतंत्र वर्तमानता तथा अपने परिवेश से तादात्म्य अथवा जीवन के स्रोतों से अव्यवहित तादात्म्य में ? इसे जीवन्तता तो कह सकते हैं किन्तु चेतना की समग्रता कैसे कह सकते हैं ? जिस "मैं" को कृष्णमूर्ति अपूर्णता और व्याघात का स्रोत कह रहे हैं वह उस अस्तित्व मात्र में है जो अहंकारमूलक है । यह अहंकार जैव प्रकृति में व्यष्टित्व का आधार है । इस अहंकार से मुक्ति के क्रम का सूत्रपात सर्वप्रथम दर्शक-दृश्य भेद के आविर्भाव के साथ ही होता है, क्योंकि यह "मैं" विषय से नियंत्रित नहीं होकर विषय का नियामक होता है, इससे अवर स्तरीय चेतना विषय की कारा में बन्द रहती है । पाशव चेतना और मानव-चेतना में यही अन्तर है । कृष्णमूर्ति ने विश्लेषक-विश्लेष्य, दर्शक-दृश्य में भेद को संघर्ष का मूल कहा है; किन्तु पशु में यह भेद नहीं होने पर भी संघर्ष तो होता है और अधिक तीव्र संघर्ष होता है । वास्तव में इस भेद पर दर्शकत्व के पक्ष में विजय, यही चित् की आत्म-चरितार्थन की यात्रा का गन्तव्य है । पृष्ठभूमि से, अतीत से मुक्ति, यह चेतना के स्फुट आत्मबोध की अनिवार्य पूर्वापेक्षा है; पशु इस मुक्ति का यत्न आरंभ भी नही कर सकता, पुष्प भी इससे उतना ही निबद्ध होता । यह केवल अभिमान हैं, अस्मिता-बोध: से संपन्न चेतना: मनुष्य: के लिए ही संभव है कि वह अपने अतीत, अपनी पृष्ठ-भूमि को "अपने" से पृथक्, "अपने" पर उपाधि के रूप में, देख सकता और इससे मुक्ति का प्रयत्न कर सकता है ।

अवश्य कृष्णमूर्ति जिस "मैं" की बात कर रहे हैं वह उपहित "मैं" ही है और अनु-पहित "मैं" को वे "मैं" नहीं मानते बल्कि "मैं - पर" से अतिक्रामी द्रष्टृत्वमात्रता, चिन्मा-त्रता, मानते हैं, किन्तु हमारा निवेदन है कि यह द्वितीय स्तर प्रथम स्तर को पूर्वापेक्षित करता है और यह प्रथम स्तर अवर स्तरीय अभेद के जड़ बोझ के नीचे दबी चेतना द्वारा इस बोझ को उतार-फेंकने में सफलता का प्रथम चरण है । और स्पष्टीकरण के लिए यहाँ एक और उद्धरण देना उपयुक्त होगा :

"क्या मनस्, बुद्धि—जो कि स्वयं काल के द्वारा दूषित हो चुकी है—शान्त हो सकती है ? ऐसी शान्त कि वह जीवन को उसकी समग्रता में और इस प्रकार समस्याओं के बिना देख सके ? जब तुम जीवन को एक समग्र के रूप में देखते हो तब किसी प्रकार की समस्या नहीं रहती । केवल खंडों में बँटा हुआ मनस् और हृदय ही समस्याएं उत्पन्न करता है । इस खंड का केन्द्र "मैं" है । "मैं" को विचार जन्म देता है, इसकी स्वयं कोई यथार्थता—सत्ता—नहीं है । यह "मैं"—"मेरा" घर, "मेरी" निराशा, "मेरी" कुछ हो जाने की इच्छा—यह "मैं"

---

६. वहीं, पृष्ठ २८.

विचार की उपज है जो विचार कि बांटता है। क्या मन "मैं" के बिना देख सकता है ? यह करने में असमर्थ रहने पर यही "मैं" कहता है : "मैं अपने को जीसस को समर्पित करूंगा—बुद्ध को, या किसी दूसरे को—समर्पित करूंगा। ………वह "मैं" भी, जोकि अपना उसके साथ तादात्म्य स्थापित करता है जिसे कि वह अपने से श्रेष्ठतर समझता है, वास्तव में "मैं" ही है।"[7]

इससे स्पष्ट है कि कृष्णमूर्ति यहां अहंकार, आसक्ति, भेद-बुद्धि आदि की बात कर रहे हैं। किन्तु वे ऐसी अवधारणाओं का, ऐसे शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं जो एक दूसरे सन्दर्भ से जुड़े हैं जिसकी ओर हमने ऊपर संकेत किया है। उदाहरणतः 'मेरा घर' 'मैं' ही पर आधारित है किन्तु यह स्फुट 'मैं' के : अस्मिता-बोध के : आविर्भाव से भिन्न है और उससे केवल अनुषंगतः सम्बन्धित है। उदाहरणतः, यह केवल "मैं" के विचार–स्तरीय स्फुट बोध से संपन्न चेतना के लिए ही संभव है कि वह "मेरे मकान" को "अन्यों के मकान" की श्रेणी में, "मैं" को "सब" के एक वर्ग में, देखे और यह स्वीकार करे कि जैसी मेरे मकान की सुरक्षा आवश्यक है वैसी ही सबके मकान की सुरक्षा आवश्यक है। यह एक गाय या बकरी के लिए संभव नहीं है—गाय अपने बच्चे पर आक्रमण होने पर ही उग्र हो सकती है, अन्य गाय के बच्चे पर आक्रमण होने पर नहीं, क्योंकि वह "मैं" और "मेरा" में भेद नहीं कर सकती, उसका 'मैं" "मेरा" से पृथक् ग्राह्य नहीं है।

उपर्युक्त उद्धरण में एक और कठिनाई है—कृष्णमूर्ति ने "मेरा घर" और "मेरी आत्मोत्कर्ष की इच्छा" को एक ही स्तर पर रखा है जबकि इनमें मौलिक भेद हैं। सर्वप्रथम, "मेरा घर" में "मैं" की गृह में आसक्ति और उसके प्रति अधिकार की भावना है, इसके विपरीत "मेरी अपने उत्कर्ष की इच्छा" में अधिकार जबकि इच्छा के प्रति है आसक्ति "अपने उत्कर्ष" के प्रति। किन्तु स्पष्टतः इस वाक्य में "इच्छा के प्रति अधिकार" वाच्य नहीं है। जहाँ तक "उत्कर्ष के प्रति आसक्ति" का प्रश्न है वह साध्य उत्कर्ष के स्वरूप पर निर्भर करता है कि साध को आसक्ति कहा जाय या नहीं : सिद्धार्थ की बुद्धत्व के लिए साधना, कृष्णमूर्ति के श्रोताओं की कृष्णमूर्ति को सुनने में निहित जिज्ञासा, इन्हें आसक्ति-परक नहीं कहा जा सकता; धनाढ्य होने की, प्रधानमंत्री बनने की, यहां तक कि विद्वान बनने की भी, साध को आसक्तिपरक कहा जा सकता है। वास्तव में सब प्रकार के उत्कर्ष की खोज अपनी अपूर्णता के बोध में निहित है, इससे आगे जाकर यह भी कहा जा सकता है कि जगद्गत चिति-मात्र अभावानुभूति से ग्रस्त है, यहां तक कि क्षुधा काम आदि भी देहमुलक अभाव ही हैं और इस अर्थ में सार्त्र का चेतना के स्वभाव का निरूपण सर्वथा युक्त है। किन्तु यह अभावानुभूति "आत्मा के अर्थ की खोज" में मौलिक रूप से भिन्न हो जाती है, जैसे बिल्ली के चूहे को या चूहे के बिल्ली को 'देखने' से "अपने पूर्वाग्रहों, अपने संस्कारों को उनसे मुक्त होने के लिए देखना" भिन्न हो जाता है।

---

७० दि इंपोस्सिबल क्वश्चन, पृ. ४५.

इसी प्रकार विचार, शब्द और वस्तु या भावना में सम्बन्ध-विषयक उनके" विचारों" को लेकर हमारे मन में सन्देह है। वे विचार को अनिवार्यतः व्यवस्थात्मक और द्वन्द्वात्मक देखते हैं। निश्चय ही उनका उद्देश्य विचार का तटस्थ भाव से स्वरूप-निरूपण नहीं है, जैसाकि दार्शनिकों का होता है, उनका उद्देश्य नैतिक है—विचार की द्वन्द्वात्मकता और व्यवस्थात्मकता के कारण उत्पन्न भेद-बुद्धि और सीमितता का अतिक्रमण करना, विचार के जनक संस्कारों के बन्धन से मुक्ति पाकर यथातथ दृष्टि प्राप्त करना; अन्यथा उनका यह निरूपण अनेकों द्वारा कही गई बात की आवृत्तिमात्र होता। अब इसके पीछे उनके स्वयं के साक्षात्कार का, स्वयं की सिद्धि का बल है, संस्कारमुक्त दृष्टि का नावीन्य है— ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्योदय की छवि सर्वसुलभ होने पर भी उसके लिए विलक्षण और नवीन है जिसे वह अभिभूत करती है। किन्तु जहां तक विचार के स्वरूप-निरूपण का सम्बन्ध है, यद्यपि अधिकांशतः विचार को इसी रूप में देखा गया है किन्तु हमारा मत इस से मौलिक रूप से भिन्न हैं। आंशिकता हमारे सब ग्रहणों का स्वभाव है क्योंकि हम : जीव : अहंकारात्मक हैं। किन्तु विचार के स्तर पर चेतना अपनी विकास-यात्रा में पहली बार आहंकारिकता से मुक्ति की ओर अग्रसर होती है। अवश्य विचार निस्सीम का दर्शन तो नहीं कर पाता है किन्तु अपनी सीमा का दर्शन कर पाता है और इस प्रकार अपनी आंशिकता के दर्शन के द्वारा निस्सीमता का आभास भी पाता है। वास्तव में अपोहात्मकता और द्वन्द्वात्मकता का यही वास्तविक स्वरूप है। अन्यथा 'गाय' में 'अगाय' की व्यावृत्ति कैसे रहेगी ? चक्षु को दीवार का विस्तार में एक बहुत थोड़ा और केवल इधर की ओर का अंश ही दिखायी देता है, उसके परे का भाग उसे गम्य नहीं होता। यह प्रदत्तांश पूरी दीवार का अंश है यह ज्ञान चक्षु-ग्राह्य नहीं है। इसी प्रकार 'यह घट है' वाक्य में 'यह अघट है' की व्यावृत्ति अन्तर्निहित और उद्‌भासित रहती है, इसी से विचार द्वन्द्वात्मक होता है और ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वन्द्वात्मक नहीं होता।[8]

विचार के सम्बन्ध में उनका दूसरा अभिमत शब्द और वस्तु के सम्बन्ध के निरूपण में देखने को मिलता है। प्रेम-विषयक प्रश्नोत्तर के क्रम में एक स्थल पर आकर प्रश्नकर्त्ता कहता है : "हां, जितना ही हम 'प्रेम क्या है' इस प्रश्न पर विचार-विमर्श में आगे बढ़े हैं उतना ही प्रेम का स्वरूप स्पष्टतर हुआ है।" इस पर वे कहते हैं– "स्पष्टतर क्या हुआ है, प्रेम या कि प्रेम के सम्बन्ध में हम जो सोचते हैं, वह ? इस प्रसंग में हम थोड़ा और आगे जांय, क्यों ठीक है ? एक विशेष सूझपूर्ण यंत्र है जो घड़ी कहा जाता है क्योंकि हमने उसे अभिहित करने के लिए इस शब्द का प्रयोग करने की परंपरा स्वीकार की है। किन्तु स्पष्टतः 'घड़ी' शब्द स्वयं यह यंत्र नहीं है। इसी प्रकार एक अनुभूति, मन की एक अवस्था, है जिसे हम 'प्रेम' कहने के लिए सहमत हुए हैं। किन्तु यह शब्द प्रेम की अनुभूति नहीं है। और 'प्रेम' शब्द के अनेक अर्थ हैं। एक अवसर पर तुम इसका प्रयोग काम-वासना के निरूपण के लिए करते हो, दूसरे अवसर पर दिव्य अथवा निर्वैयक्तिक प्रेम के लिए, इसी प्रकार 'प्रेम क्या है, क्या नहीं है' इस विवेचन–विमर्श में इसका प्रयोग करते हो।" इस प्रश्नोत्तर के

---

८० इस पर हमने "मनुष्य और जगत्" के अध्याय ४ में तथा "सत्ताविषयक अन्वीक्षा" में अनेक स्थलों पर विचार किया है।

९०कमेंट्रीज ऑन लिविंग, थर्ड सीरीज, पृ० २१३.

क्रम में वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह हमने पीछे इस लेख के पहले पृष्ठ पर उद्धृत किया है।

निस्सन्देह इससे अधिकांश लोग सहमत होंगे। यह स्वतःस्पष्ट जैसी बात है कि पद और पदार्थ, 'प्रेम' शब्द और 'प्रेमानुभूति' दो भिन्न वस्तुएं हैं। किन्तु थोड़ा गहराई से इस पर विचार करें तो यह बात हम वैसी ठीक नहीं पायेंगे। शब्द को कृष्णमूर्ति ने यहां ध्वनि के रूप में लिया है जोकि वह नहीं होता, अर्थ–प्रत्यय की व्यंजक ध्वनि, बल्कि कहें अर्थ-प्रत्यय संयुत ध्वनि शब्द होता है। दूसरी ओर पदार्थ को भी उसके प्रत्यय से भिन्न नहीं किया जा सकता। उदाहरणतः घड़ी-यंत्र लोहा नहीं है बल्कि लोहे में अवतरित प्रत्यय है जिसने अपने क्रियान्वयन या चरितार्थन की प्रक्रिया में धूप–घड़ी से यंत्र-घड़ी तक के आविष्कार किये हैं। जहां तक प्रेम का सम्बन्ध है, निश्चय ही "प्रेम किये" बिना प्रेम का तत्त्व नहीं समझा जा सकता, उसके बिना वह 'कहा-सुनी' की बात ही होगा, 'आंखों देखी' की नहीं। किन्तु तब भी, क्या प्रेम उसी प्रकार "आँखन देखी" मात्र की बात है जिस प्रकार नीलिमा या माधुर्य 'आखन-देखी' की बात हैं? अवश्य प्रेम शब्द-वाच्य प्रत्यय मात्र नहीं है, और यह बात प्रायः सभी आध्यात्मिक–मानसिक स्थितियों के बारे में कही जा सकती है, किन्तु तब भी वह काव्य, अभिनय, भावभंगी (जिसमें भाषा भी सम्मिलित है) आदि द्वारा संप्रेषणीय होता है जबकि माधुर्य और नीलिमा-परक संवेद किसी भी प्रकार संप्रेषणीय नहीं होते। इसी कारण प्रेम करने में कुछ गौरव है जबकि मधुर चखने या नीलिमा देखने में न गौरव है न अगौरव। और यह संप्रेषणीयता इस बात की द्योतक है कि यह विचार या प्रत्यम का नितांत अविषय नहीं है, इसी से यह प्रश्न अपने से, और दूसरे से भी, प्रासंगिक है कि "मैं सचमुच प्रेम करता हूं या कि अपने को धोखा दे रहा हूं? किसी दूसरे भाव को प्रेम का नाम दे रहा हूं?" प्रेम क्या है, यह उतना ही विवेच्य और विवादास्पद हो सकता है जितना कोई भी जटिल भाव या वस्तुस्थिति हो सकते हैं। कोई यौन आकर्षण और वात्सल्य मात्र को प्रेम कह सकता है, इस प्रकार प्रेम जीवमात्र में देख सकता है। कोई इससे आगे जाकर गुरुत्वाकर्षण को भी प्रेम कह सकता है। ऐसा कहना एकदम निरर्थक है, यह हम नहीं कहेंगे, किन्तु मनुष्य में उसकी चेतना में रूपान्तरण के स्तर के अनुसार प्रेम भी रूपांतरित हुआ है इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, और यह रूपान्तरण विचार ही में होता है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना स्थाने होगा: बहुत से पक्षी, जैसे कोयल, सन्तुलित-मधुर स्वर करते हैं, उनके पीछे कभी-कभी हार्दिकता —पुंस्कोकिल की कोकिला के लिए आकुलता—भी हो सकती है, किन्तु उसे हम 'संगीत' नहीं कह सकते। मधुर-सन्तुलित शब्द संगीत तभी कहलाता है जब वह विचार-समर्थ चेतना द्वारा प्रयुक्त होता है।

ये कुछ सन्देह हैं जो हम कृष्णमूर्ति के विचारों के सम्बन्ध में अत्यंत संकोच से प्रस्तुत कर रहे हैं। संकोच का कारण हमने लेख के आरंभ में ही कहा जिसे यहां हम पुनः कहना चाहेंगे। सर्वप्रथम, वे विचार को सबसे अधिक अपकारक, सबसे अधिक भ्रामक कहते हैं, इस कारण उनके कथनों को कह कर उनके सम्बन्ध में सन्देह प्रकट करना युक्त नहीं कहा जा सकता। ऐसा

भी नहीं है कि वे 'विचार के सम्बन्ध में विचार' प्रकट कर रहे हों, क्योंकि वह भी विचार ही होगा, और यह बात वे स्पष्टतः कहते हैं। वे वास्तव में भाव की सिद्धि, संबोधि, 'स्वयं को घटित करने' की बात कहते हैं। इससे उनके पास तो वही जाये जो संबुद्ध होने को आकुल हो, जो अपने को घटित करने को उद्विग्न हो, युक्ति-तर्क के झमेलों से ऊपर उठ सके, जिसका प्रेम मस्ताना हो। मैंने तो वही विचार की, युक्ति-तर्क की, बात की है, सो मैं उनकी सभा का सभासद कैसे हो सकता हूं ?

पी-५१, मधुवन पश्चिम,
टोंक रोड, जयपुर-३०२०१५

उन्मीलन वर्ष : २, अंक २
जुलाई १९८६

विमर्श

१

"तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन, कुछ समस्याएं" पर एक टिप्पणी

डा० दयाकृष्ण की टिप्पणी देखकर प्रसन्नता हुई कि उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया लिखी। उस पर अपनी टिप्पणी संक्षेप में लिख रहा हूँ।

मुझे खेद है कि डा० दयाकृष्ण मेरे लेख का पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं देख पाये हैं। उन्होंने लेख की विभिन्न दिशाओं के इतिहास-दार्शनिक अन्तस्सूत्र को अनदेखा कर दिया है।

डा० दयाकृष्ण ठीक ही एक ऐसे "मिथ्या आत्माभिमान" को हेय मानते हैं "जो एक ओर विज्ञान की ज्ञान-साधना को निरादर की दृष्टि से देखता है वहां दूसरी ओर अपने को या अपने देश को उस आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतिनिधि मानता है जो उसके अनुसार उसकी संस्कृति ने अपने प्रारम्भिक काल में ही प्राप्त कर लिया था।" मैं भी दयाजी से सहमत हूं कि इस प्रकार का आत्माभिमान अवश्य ही मिथ्या मानना चाहिए। यह उतना ही मिथ्या है जितना यह अभिमान होगा कि विज्ञान ही एकमात्र ज्ञान है और आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति ही एकमात्र उपादेय संस्कृति।

किन्तु मेरे लेख में न विज्ञान का "निरादर" है, न यह दावा कि आध्यात्मिक ज्ञान प्राचीन भारत में ही मिलता है। मेरे लेख में विज्ञान की उपयोगिता और अनिवार्यता के साथ उसकी सीमाओं का उल्लेख है और उस निर्विकल्प आध्यात्मिक ज्ञान एवं उसकी तत्त्वमीमांसात्मक बौद्धिक व्याख्याओं से भिन्न माना गया है। इसमें अस्वीकृत केवल वह विज्ञानैकान्तवादी दार्शनिक दृष्टि है जो अध्यात्मविद्या के स्थान पर विज्ञान को अभिषिक्त करना चाहती है।

पुनश्च, मेरे लेख में तत्त्वमीमांसा का विवेचन भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में न होकर भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों संस्कृतियों के सन्दर्भ में है और यह सन्दर्भ केवल ऐतिहासिक ही नहीं है। उसका तात्त्विक संदर्भ लेख की अन्तिम कुछ पंक्तियों मे स्पष्ट हो जाता है।

वैसे ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से यह निस्सन्देह है कि भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक क्षेत्र में उपलब्धि अद्वितीय रही है जैसीकि वैज्ञानिक क्षेत्र में आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता, की यह भी सुविदित है कि मनुष्य का प्राचीन इतिहास आधुनिक की तुलना में अत्यन्त सुदीर्घ है और आध्यात्मिक खोज चिरकाल से ही मनुष्य के

लिए सहज रही है। ऐसी अवस्था में यह नितान्त संभाव्य है कि प्राचीन काल में आध्यात्मिक उत्कर्ष आज की तुलना में अधिक रहा है। नवीन वैज्ञानिक इतिहास को समस्त इतिहास का प्रतिमान मानकर जो सांस्कृतिक विकास की धारणा उद्भावित हुई है वह मुझे संदिग्ध लगती है।

दयाजी को इस वाक्य पर आपत्ति है कि "ऐन्द्रिय विश्व का आधारभूत तत्त्व अतीन्द्रिय है, इस विश्वास को आध्यात्मिक अनुभूति ही प्रमाणित कर सकती है।" यदि इस अतीन्द्रिय आधार को प्रमाणित करने का कोई अन्य साधन भी है तो वह मुझे सहर्ष स्वीकार होगा। दयाजी कहते हैं (१) "बुद्धि के विषय भी अतीन्द्रिय होते हैं।" (पृ० ४८) यदि इसका प्लातोनी अथवा गीता-अनुसारी आशय है तो मुझे कोई विरोध नहीं है, जैसे कि लेख के पृ० १० पर (६वें अनुच्छेद में) एवं पृष्ठ १२ पर स्पष्ट है। पर इस प्रकार की बुद्धि ऐन्द्रिय प्रतिभासों का विकल्पन न होकर प्रतिभात्मक अथवा साक्षात्कारात्मक होगी एवं आध्यात्मिक अनुभूति के अन्तर्गत ही होगी। यदि बुद्धि के अतीन्द्रिय विषयों से तात्पर्य विशुद्ध तार्किक प्रत्ययों से हो तो यह स्मरणीय है कि अतीन्द्रिय सत् के अनुसन्धान में उनकी स्वतन्त्रतः प्रवृत्ति अपार्थक है। पर फिर दयाजी कहते हैं (२) "प्रमाणीकरण की बात तो केवल बुद्धि के ही क्षेत्र में उदय होती है।" (पृ०४८) यदि इसका अर्थ है कि तर्क या अनुमान ही एकमात्र प्रमाण हैं तो यह अनुभव-विरुद्ध है, क्योंकि अन्य प्रमाण सुविदित हैं। यह भी स्पष्ट नहीं है कि 'बुद्धि' शब्द का अर्थ यहां विकल्प एवं अनुमान की शक्ति है अथवा ज्ञानमात्र की शक्ति है। यदि आशय यह हो कि प्रामाण्य-विचार बौद्धिक व्यापार है, तो यह निर्विवाद है। अस्तु, इसके बाद दयाजी का कहना है कि (३) "अनुभूति, चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक, केवल अपने लिए ही प्रमाण हो सकती है, किसी अन्य प्रमेय के लिये नहीं।" (वहीं) यह कथन अत्यंत विचित्र है। यदि अनुभूति अपने लिये ही प्रमाण है, अपने विषय के लिये नहीं, तो प्रत्यक्ष को प्रमाण-कोटि से ही हटाना होगा और उस स्थिति में कोई भी वस्तु-सत् प्रमेय सिद्ध नहीं हो सकेगा। अन्त में दयाजी 'आध्यात्मिक अनुभूति कदाचित् ऐन्द्रिय भी होती हो' इस सम्भावना को प्रस्तुत करते हैं। पर जो ऐन्द्रिय विषयों में व्याप्त परमार्थ सत् देख पाते हैं उनके लिए क्या ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय का भेद ही समाप्त नहीं हो जाता ?

डा० दयाकृष्ण के अनुसार "लेख के प्रथम भाग में यह कहने की चेष्टा है कि आधुनिक विज्ञान की प्रयोगात्मक विधि ने एक प्रकार से वस्तु के स्वरूप के निर्धारण को ही असम्भव बना दिया है।" (पृ० ४८) मुझे खेद है कि उन्होंने मेरे लेख को ठीक नहीं समझा। उसके पूर्वार्ध में प्रतिपाद्य है अवधारणात्मक ज्ञान की द्वन्द्वात्मकता, अनैकान्तिकता अथवा अप्रतिष्ठितत्व, नकि विज्ञान की प्रयोगात्मक पद्धति की कोई निजी विशेषता। बल्कि मैंने प्रयोगात्मक पद्धति को स्वभावाग्रही सांवृतज्ञान की अनिवार्य नियति माना है। व्यावहारिक ज्ञान की सीमाओं से मुझे कोई शिकायत नहीं है। पता नहीं दयाकृष्णजी को इस सम्बन्ध में भ्रम कैसे हुआ ?

वे आगे कहते हैं कि मेरा "यह विश्वास कि प्राचीन विज्ञान और तत्त्वमीमांसा अपने अभ्यस्त विश्व-परिचय के आधार पर तत्त्व-विभाग और तत्त्व–लक्षण से प्रायः आश्वस्त रहते थे, उस विज्ञान और तत्त्वमीमांसा की ऐतिहासिकता को भुलाकर ही हो सकता है।" (पृ० ४८) यहां पर भी उन्होंने मेरे वाक्य को उसके सन्दर्भ में नहीं समझा है। मेरा आशय

आधुनिक विज्ञान की तुलना में प्राचीन विज्ञान की अप्रयोगात्मकता को संकेतित करना था नकि उसकी इतिहास-निरपेक्षता सिद्ध करना। यह बात डा० दयाकृष्ण द्वारा उद्धृत वाक्य के बाद आने वाले मेरे वाक्य से स्पष्ट होगी– "वर्तमान विज्ञान अद्यावधि ज्ञान को सदा अधूरा मानकर निरन्तर नये प्रयोगों से उसे सुधारने और पूरा करने में निरत रहता है।" इसके विपरीत प्राचीन "आस्था थी कि सभी पदार्थ एक स्वाभाविक रूप से लोकानुभव में अपना स्वरूप व्यक्त करते हैं।" इस आस्था का उल्लेख मैंने ऐतिहासिक तथ्य के रूप में किया है, समर्थनीय तत्त्व के रूप में नहीं।

दयाजी कहते हैं "जो कुछ भी हो, कहने का तात्पर्य यही है कि पांडेजी ने प्राचीन विज्ञान और तत्त्वमीमांसा को प्रत्यक्षाश्रित बताया है। यह उतना ही सत्य या असत्य है जितना कि वह आधुनिक विज्ञान या तत्त्वमीमांसा के बारे में होगा।" (पृ० ४८-४९) यह तो ठीक ही है। मैंने प्राचीन और आधुनिक विज्ञान में कोई मौलिक भेद नहीं किया है। मेरा उद्देश्य तत्त्वमीमांसा की दो दिशाओं में भेद करना था जिनमें एक दिशा (प्रत्यङ्.मुखी) उसकी उन्नायक और दूसरी (पराङ्.मुखी) उसके लिये आत्मघाती है। इसमें भी "प्राचीन-नवीन" का भेद तात्त्विक दृष्टि से निरर्थक है। प्राचीन-नवीन का भेद ऐतिहासिक है और इस रूप में दिशा-भेद के कारण सार्थक है।

दयाजी आगे कहते हैं –"विज्ञान और तत्त्वमीमांसा बुद्धि के क्षेत्र हैं और उनमें प्रत्यक्ष का सन्दर्भ हमेशा एक-सा ही रहता है"। मैं भी उन्हें बुद्धि के ही क्षेत्र में रखता हूं पर विज्ञान और तत्त्वमीमांसा को एक कोटि में नहीं रखता। विज्ञान की प्रगति में अपूर्व प्रत्यक्ष की चुनौती एक महत्त्वपूर्ण घटक है। अनेक तत्त्वमीमांसाओं के लिये विज्ञान द्वारा अवधारित विश्व एक पूर्वमान्यता है। यह कहा जा सकता है कि विशुद्ध ऐन्द्रिय व्यापार और वस्तु-स्वरूप को एक-सा रहना चाहिए और इसलिए प्रत्यक्ष के सन्दर्भ को हमेशा वैसा ही, पर वैचारिक इतिहास में सोपकरणक ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय एक-सा निर्धारित नहीं किया जाता रहा है। "तार्किक दृष्टि से इससे मौलिक भेद उत्पन्न नहीं होता" या होता है, यह तार्किक की दृष्टि और मौलिकता की व्याख्या पर निर्भर करता है।

डा. दयाकृष्ण का कहना है कि आत्मानुभूति विविध और साधन-भेद से भिन्न-भिन्न होती है, अतः उसमें वे ही कठिनाइयां होंगी जो लौकिक प्रत्यक्ष की व्याख्या में। एक सीमा तक यह सही है और मेरा यह आग्रह कभी नहीं रहा कि आत्मानुभूति और उसकी व्याख्या एक-रस होती है। किन्तु मेरा एक प्रकार के आम्नाय के अनुसार यह विश्वास है कि इस विविधता का कारण वासना-भेद और स्तरीय सन्दर्भ के भेद पर आश्रित व्याख्या-भेद है। आत्मानुभूति स्वरूपतया अनन्त और अखंड होने से मन और वाक् के परे मानी गई है। उसे लौकिक प्रत्यक्ष एवं विकल्पात्मक ज्ञान के समान "एक" अथवा "अनेक" नहीं कहा जा सकता। सौपाधिक रूप से ही वह मनोगोचर कही जा सकती है और इसी रूप में वह तत्त्वमीमांसा को विविध वैयक्तिक, साम्प्रदायिक और ऐतिहासिक परिधान देती है। यह भी स्मरणीय है कि आध्यात्मिक साधना वैज्ञानिक करणोपकरणात्मकता से नितान्त भिन्न है। फलतः जहां वैज्ञानिक ज्ञान विकल्पात्मक और परोक्ष रहता है, आध्यात्मिक ज्ञान निर्विकल्पक और अपरोक्ष। पर यह निर्विकल्पकता ऐन्द्रिय निर्विकल्पकता के समान नहीं है।

वस्तुतः डा० दयाकृष्ण आध्यात्मिक अनुभूति को लौकिक अनुभूति के समानान्तर ही मानते हैं। वे आत्मानुभूति में औपाधिक स्तर-भेद के स्थान पर समानस्तरीय आयाम-भेद ही मानते हैं । मुझे कहना है कि यह दृष्टि परम्परागत आध्यात्मिक विवरणों की आग्रहपूर्वक उपेक्षा करती है ।

दयाजी ने बुद्धिवादी एवं आधुनिकतावादी दृष्टिकोण से एक सामान्य प्रचलित अध्यात्मवाद और परम्परावादिता का खंडन किया है, किन्तु इस प्रक्रिया में उन्होंने दोनों ही पक्षों का इतना सरलीकरण कर दिया है कि वे न तात्त्विक रहे हैं न ऐतिहासिक । मेरे लेख का अभिप्राय तो खो ही गया है ।

११, बलरामपुर हाउस,
इलाहाबाद

गोविन्दचन्द्र पाण्डे

उन्मीलन : वर्ष २, अंक २
जुलाई, १९८६

२

सांख्य–वेदान्त वाद–विवाद : द्राविड़जी के आक्षेपों का उत्तर

आचार्य प्रवर द्राविड़जी जैसे वरिष्ठ विचारक ने मेरे लेख को आलोचना-योग्य समझा इससे मेरा कृतार्थ अनुभव करना स्वाभाविक है। उन्होंने मेरे प्रतिपादनों और युक्तियों पर जो प्रश्न उठाये हैं यदि मैं उनका उत्तर देने का प्रयत्न करती हूं तो वे इसे मेरी दुश्शीलता नहीं मानकर विचार-प्रक्रिया को आगे बढ़ाने और अपने-आप में स्पष्ट होने की इच्छा के रूप में ही देखेंगे, ऐसी मैं आशा करती हूं। किन्तु उनके आक्षेपों पर अपने स्पष्टीकरण देने से पहले मैं दो-एक सामान्य बातें कहना चाहूंगी। सर्वप्रथम, मैं सांख्य-सिद्धान्त (एक द्वैतवाद) को वेदान्त-सिद्धान्त (एक अद्वैतवाद) से अधिक युक्त नहीं मानती हूं, बल्कि वेदान्तीय अद्वैतवाद को दार्शनिक चिन्तन की उच्चतम उपलब्धि मानती हूं; किन्तु शंकर द्वारा सांख्य की आलोचना को अयुक्तियुक्त मानती हूं। मेरे विचार में शंकर सांख्यीय पूर्वपक्ष के प्रस्तुतीकरण में भी अयुक्तियुक्त हैं और उसकी आलोचना में भी अयुक्तियुक्त हैं। मेरे लेख में मुख्यतः यही दिखाने का प्रयत्न किया गया था। दूसरे, मैंने सांख्य की व्याख्या में अपने को ईश्वरकृष्ण तथा उसके टीकाकारों के शब्दों का बंदी नहीं बनने दिया है, बल्कि टीकाकारों की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया है, केवल श्री यशदेव शल्य के इस पर स्वतंत्र चिन्तनात्मक विचारों को ही कुछ सोचा–समझा है और उनके सहारे सांख्य के तत्त्व के ग्रहण का प्रयत्न किया है। इस लिए मेरे किसी कथन पर वाचस्पति मिश्र आदि आचार्यों के कथनों या अकथनों के आधार पर आक्षेप स्वीकार्य नहीं होगा, मेरे प्रतिपादन पर आक्षेप सांख्य की तत्त्व-दृष्टि से संगतता-असंगतता के आधार पर ही स्वीकार्य हो सकता है। इस स्पष्टीकरण के बाद मैं आदरणीय द्राविड़जी के आक्षेपों के स्पष्टीकरण देने का प्रयत्न करूंगी।

सर्वप्रथम श्रुति-प्रमाण की बात। द्राविड़ जी के अपने शब्दों में, "वेदों के प्रामाण्य पर उन्होंने (वाचस्पति मिश्र ने) या अन्य किसी ने कोई आक्षेप नहीं किया है।" (पृ० ५२) किन्तु क्या उन्होंने वेद-प्रामाण्य का कहीं आश्रय लिया है? अब जहां तक आक्षेप का प्रश्न है, ईश्वरकृष्ण ने ही दूसरी कारिका में कहा है "त्रिविध दुःख-निवृत्ति के लौकिक उपायों के समान ही वैदिक उपाय भी अविशुद्ध, विनाशी और अतिचारिता के दोषों से युक्त हैं।" यह तो रही कथन की बात, किन्तु इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि केवल इसी प्रकार का कथन सांख्य-सिद्धान्त और सांख्यकारिका की सारी प्रतिपादन-शैली से संगत है। सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार ही गीता ने भी वेदों को त्रैगुण्य-विषय कहा है।

द्राविड़जी आगे कहते हैं कि "अनुमान से प्रकृति की सत्ता सिद्ध की जा सकती है किन्तु महत्, अहंकार आदि की सत्ता तथा उत्पादक्रम किन अनुमानों से और कैसे सिद्ध करना संभव है ? " (वहीं)

यहां हमारा निवेदन है कि सांख्याचार्य महत् आदि का ज्ञान अनुमान से ही मानते हैं श्रुति से नहीं, यह बात सांख्यकारिका की कारिका 9 तथा २२ एवं उसके बाद की कुछ कारिकाओं से देखी जा सकती है । कारिका ६ में सत्कार्यवाद का प्रतिपादन है जो आनुमानिक है श्रुत्यात्मक नहीं, और यही सत्कार्यता का सिद्धांत प्रधान (प्रकृति) से महदादि (बुद्धि आदि) के उत्पत्ति-क्रम के अनुमान का आधार है । इस क्रम के प्रतिपादन में साँख्यकारिका ने यद्यपि निगमन प्रक्रिया नहीं दी है किन्तु यह प्रक्रिया इसमें पूर्वगृहीत है, यह स्पष्ट है, और यह भी स्पष्ट है कि इसमें कारिकाकार ने न श्रुति का उल्लेख किया है और न श्रुति को वहां पूर्वगृहीत ही कहा जा सकता है । किन्तु मान लें कि उन कारिकाओं में स्पष्टतः यह नहीं कहा गया है कि महदादि-क्रम अनुमेय है, किन्तु यह तो द्राविड़ जी भी स्वीकार करते हैं कि वे प्रकृति को अनुमेय मानते हैं और उनका ऐसा मानना युक्ति-संगत है । यदि ऐसा है तब ठीक उसी प्रकार महत् आदि को अनुमेय मानना भी है, क्योंकि जो आधार प्रकृति के अनुमान के लिए है ठीक वही आधार महदादि के अनुमान के लिए भी है । वास्तव में महदादि से प्रकृति का अनुमान और वस्तु-जगत् से इन्द्रियादि का और अनुक्रमशः महत् का अनुमान एक-समान ही है। द्राविड़ जी ने यह नहीं बताया कि महदादि और उनके अनुक्रम का ज्ञान अनुमानगम्य क्यों नहीं हो सकता । दुर्भाग्य की बात यह है कि जब कि सांख्य को श्रुति-प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं थी तब भी उसने देवताओं आदि के अस्तित्व के लिए इस प्रमाण को स्वीकार किया । किन्तु देवताओं आदि का अस्तित्व उस दर्शन का विचार-विषय नहीं है, इसलिए यह प्रमाण सांख्य के लिए अनावश्यक है । श्रुति को प्रमाण मानने को मैं दुर्भाग्यपूर्ण इसलिए मानती हूं क्योंकि एक तो यह विचार की उस आत्मोन्मुख मूलगामिता को यादृच्छिक रूप से अवरुद्ध करता है जो दर्शन के लिए आधारभूत है और दूसरे, यह विचारक को उस प्रामाणिकता से वंचित करता है जो अपने अनुभव से साक्षात्कार के द्वारा ही आती है । इसका यह अर्थ नहीं कि श्रुति-प्रमाण कहीं प्रासंगिक नहीं है, यह अनुभव के उन तात्त्विक स्तरों पर प्रासंगिक हो सकता है जो स्तर असाधारण अनुभूति या दृष्टि से ही गम्य होते हैं । अधिकांशतः उपनिषद्, बुद्धवाणी आदि आदि इसी कोटि में आते हैं । किन्तु इनमें भी सब स्थल इस प्रकार के नहीं हैं । उदाहरणतः 'मन इन्द्रिय है या नहीं' यह बात इस कोटि की नहीं है जबकि "तत्त्वमसि श्वेतकेतो !" यह वचन इस कोटि का है । यहां प्रश्न हो सकता है कि इन कोटियों में क्या भेद है ? इनमें भेद यह है कि 'मन इन्द्रिय है या नहीं' यह वर्गीकरण-विषयक प्रश्न है और यह विचार के ही अन्तर्गत उत्पन्न होता है, क्योंकि यह इस प्रश्न से सम्बन्धित है कि ज्ञान के करण कौन-कौन से हैं । अब यदि मन को इस कारण इन्द्रिय या अनिन्द्रिय कहें क्योंकि श्रुति में ऐसा कहा है, जैसाकि अधिकांशतः शंकर आदि वेदान्त दार्शनिकों का युक्ति, अथवा कहें अयुक्ति करने का ढंग है, तो यह इस प्रश्न के स्वरूप के विपरीत है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पुस्तक मेज़ पर है या नहीं यह निर्णय श्रुति से करना इस प्रश्न के स्वरूप के विपरीत होगा । मैं तो कहना चाहूंगी कि अद्वैत-सिद्धान्त, जोकि विचार के स्वरूप की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक सिद्धान्त है, वेदान्ताचार्यों की निर्बाध श्रुत्याश्रितता के कारण

नितान्त अविकसित रह गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सांख्य उससे अधिक विकसित हुआ, वह वास्तव में वेदान्त से भी अधिक अविकसित रहा, किन्तु इसका कारण उसका अधिक लोकप्रिय नहीं होना है, बुद्धि को श्रुति को सौंपना इसका कारण नहीं है।

इसके बाद द्राविड़जी ने शंकर में श्रुति की तर्काधीनता विषयक मेरे प्रतिपादन का प्रतिकार करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार शंकर श्रुत्यनुगृहीत तर्क को प्रतिष्ठित और तदननुगृहीत तर्क को अप्रतिष्ठित मानते हैं। यह बिल्कुल सही है, इसी से शंकर को उचित रूप से दर्शनिक नहीं कहना चाहिए, एक ऐसा धार्मिक व्यक्ति कहना चाहिए जो बहुत बार दार्शनिक व्याख्या भी करता है। क्योंकि जो व्यक्ति विचार को जहां चाहे वेद का उल्लेख कर रोक दे उसे शुद्ध रूप से दार्शनिक नहीं कहा जा सकता। किन्तु तब भी यह प्रश्न शंकर से भी किया जा सकता है कि श्रुति के अर्थ का निर्णय कैसे हो सकता है? शंकर इसके लिए साधना (अधिकार) और युक्ति, अर्थात् तर्क-बुद्धि और साक्षात्कारात्मक बुद्धि, दोनों को आवश्यक मानते हैं। तब स्वभावत: अन्तत: निर्णय-कर्त्ता का अनुभव और तर्क ही प्रमाण होंगे।

इसके आगे द्राविड़जी ने ब्रह्म-ज्ञान के प्रसंग में कांट के संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक का प्रश्न उठाने पर आपत्ति की है। किन्तु जैसा कि द्राविड़जी द्वारा दिये गए उद्धरण के पहले ही वाक्य से स्पष्ट है वहां प्रसंग ब्रह्म-ज्ञान का नहीं है बल्कि विचार के स्वरूप का है। इसके बाद द्राविड़जी ने विकल्प-बुद्धि (अंडरस्टैंडिंग) के सम्बन्ध में कांट और बौद्ध दृष्टि में भेद-विषयक मेरे कथन पर आपत्ति की है। उनकी आपत्ति दिङ्नाग के पक्ष से तो सही है किन्तु वसुबन्धु और नागार्जुन के पक्ष से सही नहीं है।

आगे (पृ. ५५, अनुच्छेद १) में द्राविड़जी मेरी सांख्य-मत की इस व्याख्या का कि "प्रकृति के महत् आदि क्रम से विकसित होने के कारण रथादि पदार्थ बौद्धिक हैं और प्रकृति भी वैसी ही है, भले ही वह जड़ हो" इस प्रकार स्पष्टीकरण करते हैं—"अर्थात् प्रकृति से लेकर समग्र विश्व चैतन्य-युक्त है।" यदि मेरा यह मन्तव्य होता तो मैं शंकर की सांख्य पर आपत्ति का प्रतिवाद कैसे कर सकती थी? फिर मैंने स्वयं प्रकृति को जड़ ही स्वीकार किया है। अब यह एक दुर्भाग्य की बात है कि जनसाधारण और प्राचीन ग्रंथों के अदार्शनिक व्याख्याकारों के समान द्राविड़जी भी, जोकि निर्विवाद रूप से उच्च कोटि के विद्वान और विचारक हैं, 'जड़' और 'भौतिक' को समानार्थक मानते हैं और उनकी यह भ्राँति इतनी बद्धमूल है कि वे मेरे जड़ और भौतिक में भेद बताने के बावजूद मेरे कथन का यह अर्थ कर रहे हैं कि मैं प्रकृति को चैतन्य-युक्त कह रही हूं। किन्तु पता नहीं क्यों लोग इस ओर ध्यान नहीं देते कि 'भौतिक' विकार-क्रम का अंतिक परिणाम है, इस अंतिम परिणाम का भी पहला चरण इन्द्रिय (बाह्योन्मुख ज्ञान-शक्ति) और दूसरा तन्मात्र (संवेद्य गुणों के तत्त्व) हैं। यदि 'जड़' और 'भौतिक' पर्यायवाची होते तब सांख्य पाश्चात्य भौतिकवादियों के समान सम्पूर्ण विकार-क्रम का प्रथम चरण भौतिक को और अंतिम-परिणाम बुद्धि को मानता, किन्तु वह उलट मानता है। अब शंकर की ही आपत्ति को देखें। वे कहते हैं, और द्राविड़जी उन्हें उद्धृत करते हैं, कि "विशिष्ट प्रकार के सुख-दु:खादि साधन-पदार्थों से परिपूर्ण इस विश्व की जड़ प्रकृति के द्वारा रचना विचारार्ह नहीं है।" यदि ऐसा है तब क्या वेदान्त के अनुसार इनका रचयिता ब्रह्म है? वेदन्ती कहेंगे कि ये ब्रह्म के विवर्त है, वास्तविक परिणाम नहीं, अर्थात् वस्तुत: यह साधन-पदार्थों से परि

पूर्ण विश्व है ही नहीं। किन्तु वे ऐसा भी नहीं मानते, वे इसे ब्राह्म दृष्टि से अवास्तविक और मायिक दृष्टि से वास्तविक मानते हैं और माया को वे जड़ मानते हैं। तब क्या यह माया भूत-तत्त्व है ?

मेरे जड़ और भौतिक में भेद करने को लेकर द्राविड़जी आगे (इसी पृष्ठ पर) कहते हैं-"मान लें कि प्रकृति जड़ नहीं, चेतन है..."यह क्या अर्थ का अनर्थ नहीं है ? मैं स्पष्टतः प्रकृति को जड़ कह रही हूं और द्राविड़जी मेरे पर आरोप लगा रहे हैं कि मैं प्रकृति को जड़ नहीं चेतन कह रही हूं। 'जड़' और 'भौतिक' में भेद करने के समान ही मैंने 'चेतना' और 'चैतन्य' में भेद किया है और चेतना को प्राकृतिक तथा चैतन्य को पौरुषिक कहा है। सांख्य और वेदान्त के दार्शनिक क्रमशः विकृति और वृत्ति में पुरुष-चैतन्य और ब्रह्म-चैतन्य के संयोग से चेतना की अभिव्यक्ति मानते हैं। वह नितान्त स्थूल कल्पना है और यदि इन पर सूक्ष्म दार्शनिक प्रश्न उठाये जायें तो उनका समाधान उनके पास नहीं होगा। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने ये प्रश्न नहीं उठाये हैं। उदाहरणतः पश्चिमी दार्शनिकों ने भौतिक और मानसिक में सम्बन्ध-विषयक प्रश्न उठाये हैं जिनको उठाने का कारण हम उनकी आधारभूत भ्रान्तता को मानते हैं। इस भ्रांति से पश्चिमी दर्शन को कांट ने मुक्त किया, जहां तक भी किया। भारतीय द्वैतवादियों ने यह प्रश्न नहीं उठाया, जिसका कारण यह है कि वे इस सम्बन्ध में उस भ्रांति में नहीं थे जिसमें पश्चिमी दार्शनिक थे, यद्यपि इन दार्शनिकों के प्रतिपादन प्रकटतः इस भ्रांति से ग्रस्त प्रतीत होते हैं। किन्तु यदि ये वास्तव में भी इस भ्रांति से ग्रस्त होते तो उनमें भी यह प्रश्न उठे बिना नहीं रह सकता था। अब द्रष्टव्य है कि प्रकृति का प्रथम विकार बुद्धि है और अंतिम महाभूत, बुद्धि सत्व-प्रधान है और महाभूत तमस-प्रधान। यह भेद भी वास्तव में इनमें केवल इनके उपादान-पक्ष का ही द्योतक है, इनके विकारी रूप का नहीं। अब ये उपादान-भेद और विकार-भेद बुद्धि को अहंकारादि से महाभूत पर्यन्त परिणति में विषयि-विषयात्मक लोक का और कैवल्यार्थ प्रवृत्ति का अधिष्ठान बनाते हैं। अब यदि जड़ का अर्थ साधारण जनोचित ही मानें तो फिर बौद्धिक और भौतिक में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। किन्तु बौद्धिक और भौतिक में मौलिक अन्तर है, बुद्धि लोक-प्रवर्तक और लोक-निवर्तक, अविवेकी और विवेकात्मक है और अपने प्रथम व्यापार में भोग्य लोक को उत्पन्न करती है जिसके विषय या भोग्य पक्ष का उपादान भौतिक तत्त्व बनता है। दूसरी ओर, यदि पौरुषिक चैतन्य और संवेदात्मक चेतना को अभिन्न मानें तो पुरुष में संवेदन और विचारादि मानने होंगे। यदि कहें कि संवेदन आदि पुरुष- प्रकृति के संयोग से पुरुष में उत्पन्न होते हैं, तो फिर संयोग के सम्बन्ध में वे सब प्रश्न उत्पन्न होंगे जो पश्चिमी दर्शन में उत्पन्न हुए और उसके अतिरिक्त इस संयोग से पुरुष में संवेद-रूप चेतना के उत्पन्न होने सम्बन्धी प्रश्न होंगे। तीसरे, स्वरूपतः तो पुरुष को संवेद - रहित ही मानना पड़ेगा, और तब इस प्रकार की स्थूल दृष्टि से वह न्याय-सम्मत द्रव्य हो जायगा। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही मैंने जड़ और भौतिक में और प्राकृतिक चेतना तथा पौरुषिक चैतन्य में भेद किया है जो भारतीय दार्शनिक दृष्टि के सर्वथा अनुकूल है।

आगे द्राविड़जी मेरे विषयभाव तथा भोग्य-भोक्तृ भाव–सम्बन्धी स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में कहते हैं कि "सांख्य के अनुसार सुख-दुःखादि मनोवृत्तियों से अभेदापन्न या उनमें प्रतिबिम्बित पुरुष ही भोक्ता होता है।" (पृ०५५) यहां यह द्रष्टव्य है कि विषय-निरपेक्ष

शुद्ध विषयित्व और भोग्य-निरपेक्ष शुद्ध भोक्तृत्व एक बात है और सापेक्ष विषयित्व और भोक्तृत्व दूसरी बात। केवल प्रथम ही पुरुष के केवली-स्वरूप के साथ संगत है, दूसरा प्राकृतिक विषयित्व और भोक्तृत्व है और केवली के लिए उसका स्वरूप उस पर प्रकाशित करने का प्रक्रम है, जैसे कहें शुद्ध प्रत्यय का चित्र, गीत या निबन्ध रूप में व्याख्यान होता है। इस दृष्टि का स्पष्ट कथन ईश्वरकृष्ण-कृत छप्पनवीं कारिका में देखा जा सकता है। इस कारिका के अनुसार सृष्टि का प्रयोजन पुरुष के विमोक्ष की सिद्धि है, उस पुरुष के जो स्वरूपतः विमुक्त है। स्पष्टतः स्वरूप से विमुक्त पुरुष को मोक्षार्थ प्रवृत्ति या मोक्षोपलब्धि की अपेक्षा नहीं हो सकती, किन्तु मोक्षार्थ प्रवृत्ति को मुक्तस्वरूपता (पुरुष) की अपेक्षा होगी। इसकी स्पष्ट व्याख्या मैंने अपने लेख में की है। द्राविड़जी कृपया उसे पुनः सहानुभूतिपूर्वक देखने का कष्ट करें। द्राविड़जी इसी अनुच्छेद में आगे कहते हैं कि "यदि सुख-दुःखादि-कारक विषय सुख-दुःख रूप ही हों तो जो भोक्ता है वही भोग्य भी होगा।" किन्तु ऐसा भोक्ता भोग्य के बिना और ऐसा भोग्य भोक्ता के बिना अकल्पनीय है, दोनों अनिवार्यतः परस्परानुविद्ध हैं, एक ही स्थिति के दो पक्ष। अब यदि पुरुष ऐसा भोक्ता है तो वह कभी केवली नहीं हो सकता। किन्तु क्योंकि वह स्वरूपतः केवली है, और स्वरूपतः द्रष्टा और भोक्ता भी, इसलिए यह समझने की आवश्यकता है कि एक दर्शन-व्यवस्था कैसे ऐसा कह रही है, और यही देखने का प्रयत्न हमने किया है।

शंकर की सांख्य-विरोधी तीसरी आपत्ति की व्याख्या करने के बाद द्राविड़जी कहते हैं : "प्रकृति भी तीन परस्पर विरुद्ध धर्म-युक्त गुणों का सन्निवेश होने के कारण वह अपने घटकों की अन्योन्य परिमिति से मुक्त नहीं हो सकती। अतः प्रकृति का भी कोई न कोई कारण होना आवश्यक है।" किन्तु क्यों ? तीन गुण परस्पर परिमित हैं किन्तु तीनों संयुक्त रूप से प्रकृति हैं और अपरिमित हैं। परिमित घटकों से घटित को यदि इसलिए कार्य कहा जाय कि घटक अवयव अवयवी को घटित करते हैं, तो यह प्रकृति के लिए सही नहीं है जिस प्रकार यह घट, पट आदि के लिए है, क्योंकि त्रैगुण्य और प्रकृति इस प्रकार कल्पित नहीं हैं कि त्रिगुण परस्पर पृथक् हो सकें, उनका पार्थक्य केवल उद्गृहीत है। वेदान्त जगत् को ब्रह्म का विवर्त मानता है, यह बहुत सूक्ष्म दार्शनिक सूझ है; उतनी ही, और उसी प्रकार की सूक्ष्म दृष्टि सांख्य द्वारा संसार का कारण पुरुष को नहीं मानकर "पुरुष-विमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरंभः" कहने में है। शंकर इस सूक्ष्मता को ग्रहण करने में जो अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं उसका कारण केवल उनकी अन्य पक्षों के प्रति अनुदारता ही हो सकती है। वास्तव में उनकी यह अनुदारता बौद्धों की आलोचना में और भी प्रखर रूप से दृष्टिगत होती है।

जहां तक निमित्त और उपादान में व्यामिश्र का प्रश्न है, सांख्य स्वयं ही बुद्धि को जगत्-प्रवर्तन का कारण मानता है, यद्यपि स्वयं बुद्धि को भी कारण की आवश्यकता है: वह कारण जगद्दृष्टि से अविद्या है और पारमार्थिक दृष्टि से परार्थ। तब शंकर का यह आपत्ति उठाना कि "शयन-आसन आदि बुद्धिपूर्वक निर्मित हैं। उन्हें अचेतनपूर्वक कैसे कहा जा सकता है" या तो समझ की कमी का द्योतक कहा जा सकता है या फिर दूसरे को भ्रम में डालने के प्रयत्न का। स्वयं शंकर क्या शयन-आसन आदि की जनक बुद्धि को ब्रह्ममूलक मानते हैं या मायामूलक ? यदि वे कहें सबका उपादान ब्रह्म है, तो सही है, किन्तु तब वह तो शयन-

आसन और बुद्धि का समान रूप से उपादान है : बुद्धि का उतना ही जितना मस्तिष्क के मांस-मज्जा का, शयन का उतना ही जितना कपास का। यदि कोई शंकर से कहे "ब्रह्म चेतन है और संसार में इतने प्रकार के कंद-मूल-फल हैं, तब अवश्य ये ब्रह्म ने अपने खाने के लिए ही बनाये होंगे, क्योंकि चेतन सत्त्व कोई कार्य निष्प्रयोजन नहीं करता," तब उनका क्या उत्तर होगा ? वे इसका उत्तर देंगे कि इस प्रकार की युक्तियां तत्त्व-चिन्तन के स्तर पर ग्राह्य नहीं होतीं। किन्तु शंकर सांख्य पर इसी प्रकार की आपत्तियां उठा रहे हैं और आश्चर्य यह कि द्राविड़जी उनकी आवृत्ति कर रहे हैं।

पांचवीं आपत्ति पर मेरे स्पष्टीकरण की आलोचना की यहां मैं उपेक्षा करूंगी क्योंकि मेरे आक्षेप की युक्ति बहुत स्पष्ट है।

शंकर की छठी आपत्ति पर मेरे स्पष्टीकरण में द्राविड़जी को 'मनुष्य' और 'पुरुष' में व्यामिश्र कैसे दिखाई दिया, यह समझ में नहीं आया, क्योंकि मैंने 'पुरुष' को मनुष्य के लिए पर्यन्त स्थिति : साधना का उच्चतम साध्य, अथवा कहें मनुष्य में लक्षित कैवल्यार्थ प्रवृत्ति का अभीप्सित प्रयोजक: कहा है। आगे द्राविड़जी कहते हैं—"आत्म-अपर्याप्त पर्यन्त स्थिति कहना सांख्य के मूल पर ही कुठाराघात है।" किन्तु 'पर्यन्त स्थिति' को 'आत्म-अपर्याप्त' कहा ही कैसे जा सकता है ? संभवत: द्राविड़जी 'पर्यन्त' का कोई दूसरा अर्थ ले रहे हैं जिसका कम से कम मुझे ज्ञान नहीं है।

सातवीं आपत्ति-विषयक अनुच्छेद के अन्त में द्राविड़जी ने प्रश्न उठाया है कि "यदि प्रकृति की ही सहज प्रवृत्ति विश्व का निर्माण और संहार करती है तब इस प्रश्न का क्या उत्तर होगा कि ऐसी स्वयंपूर्ण प्रकृति के लिए पुरुष के सहयोग या साहचर्य की क्या आवश्यकता है ?" (पृ०५७) ऐसी युक्ति ऐसे बहुत से लोगों ने दी है जो सांख्य को भौतिकवादी सिद्ध करना चाहते हैं और द्राविड़जी का संकेत संभवत: उन्हीं की ओर है। किन्तु क्या दार्शनिक पर-तत्त्वों के स्वरूप और उनमें सम्बन्ध को लौकिक वस्तुओं और उनमें सम्बन्धों की उपमा पर समझना उपयुक्त कहा जा सकता है ? कुम्हार कल्पना और इच्छा करता है और तब चाक आदि के उपयोग से मिट्टी में घट का निर्माण कर देता है; इसी प्रकार कोई व्यक्ति कोई विचार करता है और तदनुसार उठकर चल देता है, मिट्टी स्वयं घट नहीं बन सकती और न घट उठकर चल सकता है। क्या प्रकृति, पुरुष और जगत् के सम्बन्ध को भी इसी प्रकार समझा जा सकता है ? कम से कम सांख्य ने इस सम्बन्ध को इस प्रकार नहीं देखा है—सांख्य में अविवेक और विवेक दोनों प्रकृतिगत हैं; पुरुष की सत्ता के लिए प्रमाण मनुष्य में मूल्यानुभूति (कैवल्यार्थ प्रवृत्ति) है, संसार का अस्तित्व तत्त्व (पुरुष) को निरूपित करना, आत्मसाक्षात्कार करना (पुरुष को विमुक्त करना) स्वत:सिद्ध को परत:सिद्ध करना है, इनमें से एक भी बात लौकिक सम्बन्धों की पदावली में नहीं समझी जा सकती।

यहां मैं पुन: स्पष्टीकरण करना चाहती हूं कि शंकर की आलोचना का सांख्य की ओर स उत्तर देने में मेरा प्रयोजन सांख्य की दृष्टि का विशदीकरण और शंकर के आक्षेपों की अयुक्तता दिखाना मात्र है, सांख्य-दृष्टि की वेदान्त-दृष्टि से अधिक समीचीनता दिखाना नहीं। आदरणीय द्राविड़जी ने मुझे अपनी बात और विशद करने का अवसर दिया, इसके लिए

मैं उनके प्रति अनुगृहीत हूं। यदि विद्वान लोग सांख्य और वेदान्त–दृष्टियों पर शंकर की आलोचना का सन्दर्भ छोड़ कर और आगे विचार करें तो बहुत सुन्दर बात होगी।

पावर हाउस रोड, प्रेमलता शर्मा
गुलाब बाग के पास, उदयपुर.

हिन्दी अकादमी, दिल्ली

महत्त्वपूर्ण कार्य व उपलब्धियाँ

साहित्यकार सम्मान (११ साहित्यकार सम्मानित), साहित्यिक कृति पुरस्कार (१५ कृतियाँ पुरस्कृत), साहित्यकार पेंशन व सहयोग (१५ साहित्यकारों व उनके आश्रितों को सहयोग), नवोदित लेखक-पुरस्कार (२७ युवा लेखक पुरस्कृत), छात्र पुरस्कार (१४ छात्र पुरस्कृत), साहित्यिक गोष्ठियों, परिचर्चाओं, सम्मेलनों आदि का आयोजन (शिक्षा गोष्ठी, अनुवाद गोष्ठी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी-संगोष्ठी, भारतेन्दु संगोष्ठी, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जन्म-शताब्दी समारोह, हिन्दी शिक्षक सम्मेलन, संस्कृत संगोष्ठी, हिन्दी कार्यकर्त्ता सम्मेलन, 'हिन्दी और राष्ट्रीय एकता' विचार-गोष्ठी, 'स्वतंत्रता संग्राम में 'साहित्याकारों' का योगदान' विचार गोष्ठी, 'साहित्य और सौहार्द संगोष्ठी', प्रमुख, 'भाषा-भारती' योजना के अंतर्गत भाषायी एवं भावनात्मक एकता तथा साम्प्रदायिक सौहार्द के पोषण एवं विकास के लिए कार्यक्रमों का आयोजन, मासिक'साहित्यिकी, कार्यक्रम, हिन्दी-दिवस और पखवाड़े का आयोजन, हिन्दी के २० बसंत (१९६५ से १९८५ तक की अवधि के मध्य हिन्दी की स्थिति पर विश्लेषण के लिए दो दिवसीय समारोह), हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए संयुक्त तथा सहयोगी कार्यक्रमों का आयोजन, भाषा कार्यशालाओं का आयोजन, स्तरीय एवं राष्ट्रीय कवि-सम्मेलनों का आयोजन (गणतंत्र दिवस, कवि-सम्मेलन के अतिरिक्त एकता व चेतना के संदर्भ में 'एकता के स्वर', 'चेतना के स्वर' और 'वंदना के स्वर' कवि-सम्मेलन महत्त्वपूर्ण), नये और युवा कवियों के लिए 'उभरते स्वर' युवा कवि मंच, भेंटवार्ता तथा परिचर्चा, छोटे व लघु समाचार पत्र-पत्रिकाओं को प्रोत्साहन, शोध छात्रवृत्ति, (दिल्ली के साहित्य पर १०,०००/–रु. प्रतिवर्ष), उत्कृष्ट बाल-साहित्य को प्रोत्साहन, युवा प्रतिभाओं की खोज, प्रकाशन-सहयोग (५ कृतियों के लिए सहयोग), संदर्भ पुस्तकालय व वाचनालय की स्थापना, हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए उपयोगी प्रकाशन व संकलन (काव्य संकलन 'ज्योति कलश', युवा लेखकों को पुरस्कृत रचना संकलन 'उगती किरणें', हजारोप्रसाद द्विवेदी-संगोष्ठी-संकलन, आदि प्रमुख प्रकाशित तथा 'युवा वर्ष स्मृति संकलन', दिल्ली साहित्यकार निर्देशिका, 'हिन्दी मैनुअल' आदि अन्य प्रमुख)।

–डा. नारायणदत्त पालीवाल
सचिव, हिन्दी अकादमी,
ए–२६/२७, सनलाइट इंश्योरैंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड,
नई दिल्ली–११०००२

उन्मीलन : वर्ष २, अंक २
जुलाई १९८६

३

'मूल्य : विषय-सत्ता' पर एक टिप्पणी

'उन्मीलन' के विगत (जन० ८६) अंक में 'मूल्य : विषय–सत्ता' शीर्षक अपने एक विचार-परिप्लुत तथा विदग्ध शैली-निबद्ध लेख में शल्यजी ने 'मूल्य' के स्वरूप को विशद करते हुए उसे तथ्य-भिन्न, पार्थिवता से मुक्त, चिदाकाश में प्रतिष्ठित आदि विशेषणों के द्वारा उपवर्णित किया है। इस सम्बन्ध में कुछ विचारार्ह मुद्दे शल्यजी के विचारों के शेषपूरण के रूप में यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं, लेख में प्रतिपादित विचार–प्रणाली पर आक्षेप के रूप में वे अभिप्रेत नहीं हैं।

पहले दो-एक सामान्य बातें। 'विषय' मात्र की सत्ता के रूप में मूल्य का वर्णन ठीक नहीं लगता। विषय के समान विषयि–ज्ञान, इच्छादि मनोवृत्तियों अथवा आत्म की सत्ता को भी मूल्य का पद देना, उपयुक्त नहीं होगा। मनोवृत्तियाँ तथा आत्म भी तथ्य एवं भाव्य के रूप में भिन्नतया विचार्य (विद्यमान भी) हो सकते हैं। कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि मूल्य होने के लिए विषयत्व आवश्यक शर्त नहीं है।

'सत्ता' पद का लेख में पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया गया है। सत्ता अस्तित्व से इस बात में भिन्न है कि वह भाव्य अर्थात् मूल्य है जब कि अस्तित्व भूतता या विद्यमानता है। इस पर से 'सत्ता' शब्द 'मूल्य' शब्द का ही अनुवाद-सा हो जाता है जिससे 'मूल्य: विषय-सत्ता' यह शब्द-समूह पुनरुक्ति जैसा लगता है। तथ्य को जो होना चाहिये (किन्तु नहीं है) वह क्या है, इस बात का स्पष्टीकरण अपेक्षित था। प्रत्येक तथ्य के लिए भाव्य अलग-अलग होंगे यह ठीक है तथापि मूल्य का कुछ सामान्य रूप होगा ही जिस का परिभाषण नहीं तो वर्णन या विश्लेषण आवश्यक है। मूल्य और तथ्यों का सम्बन्ध एक पुरातन काल से चली आयी समस्या है जिस पर प्लेटो, अरस्तू जैसे प्राचीन एवं कांट, हेगल जैसे अर्वाचीन दार्शनिकों ने बहुत कुछ कहा है। इस पर इतना ही प्रतिपादन पर्याप्त नहीं है कि तथ्य देश-काल परिच्छिन्न होता है जब कि मूल्य ऐसा न होकर तथ्यों से परे चिदाकाश में प्रतिष्ठित होता है। तथ्य मूल्यवाही भी माने जाते हैं। मूल्यों का तथ्यों के साथ जो भी सम्बन्ध हो वह बाह्य तो कदापि नहीं हो सकता। कम से कम वह इतना बाह्य तो नहीं ही होगा कि मूल्यों को पूर्णतया तथ्य-निरपेक्ष बना दे तथा तथ्यों को मूल्याधिष्ठान से बिल्कुल वंचित कर दे। यदि तथ्यों को मूल्याधिष्ठान मानना नितान्त अस्वीकार्य हो तो मूल्यों को तथ्याधिष्ठान माने बिना गत्यंतर नहीं है।

अब प्रश्न है कि तथ्य यदि देश–काल परिच्छिन्न ही बने रहें तो वे देश–कालापरिच्छिन्न मूल्यों के अधिष्ठान (अथवा वाहक) कैसे हों ? जो भाव्य है वह भूत तथा वर्तमान से नितांत भिन्न प्रतीत होता है। भाव्य भी भूत तथा वर्तमान की कोटि में आ जाये तो वह 'भाव्यता' खो कर स्वयं एक तथ्य बन जाता है। इस नये लक्ष्य के लिए भाव्य अन्य ही कोई स्थिति होगी जो तत्काल कल्पना–लोक में या 'प्रत्यय' रूप में ही अपनी सत्ता बनाये रखेगी। शल्यजी के विचारानुसार तो तथ्य और मूल्य का कोई पारस्परिक सम्बन्ध होना विचारार्ह ही नहीं है। किन्तु इन दोनों को एक-दूसरे से पूर्णतया अलग तथा अलग रहने वाले समझना भी ठीक नहीं जँचता। इस उलझन को सुलझाना हो तो तथ्य-मूल्य-भेद को सापेक्ष मानना होगा। उदाहरणार्थ भोजन एक तथ्य या भूत वस्तु है। उसकी मूल्यवत्ता उसके स्वादिष्ट होने पर निर्भर है। सम्भव है कि व्यक्ति-विशेष को स्वादिष्ट लगने वाला कोई खाद्य पदार्थ अन्य को बिल्कुल फीका लगे। मसालेदार खाना कुछ लोगों को स्वादिष्ट लगता है तो कुछ अन्य लोगों को बिल्कुल सादा उबाला हुआ खाना ही पसन्द आता है। खाना स्वाद-रहित भी हो तो भी अच्छी तरह पकायी वस्तु के रूप में वह समूल्य समझा जा सकता है। सब तरह निर्मूल्य मानी गयी वस्तु भी परिस्थिति-विशेष में मूल्यवान् बन सकती है। सर्वथा मूल्य-रहित कोई वस्तु कल्पनार्ह ही नहीं है। हर परिस्थिति में और हर वस्तु में किसी न किसी मूल्य का अनुप्रवेश रहता ही है। सांख्य-विचारानुसार वस्तु मात्र भोग-साधन अथवा मूल्यवान् है।

तथ्य-मूल्य-सम्बन्ध बाह्य न होकर आन्तरिक है और यह सतत परिवर्तमान भी है। सांख्य की भूमिका पर से इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। वस्तुमात्र पुरुष का भोग-साधन है। वस्तुओं की तत्तद्रूपेण अभिव्यक्ति या उनका व्यक्त रूप पुरुष के सुख-दुःख-मोह से निगड़ित है। पुरुष न हों तो जिस तरह के परिवर्तन (विसदृश परिणाम) वस्तुओं में बराबर घटित होते रहते हैं वे घटित ही न हों। इसका मतलब यह हुआ कि मूल्यवत्ता वस्तुमात्र का स्वभाव है और वह पुरुष-चैतन्य पर निर्भर करता है। पुरुष न होते तो वस्तु न होती यह बात नहीं, प्राकृतिक परिवर्तन (सदृश परिणाम) तो उस हालत में भी होते ही रहते, किन्तु वस्तुओं के अव्यक्त हो जाने से वे उपभोग्य नहीं होतीं।

यदि वस्तुएं जड़, अपरिवर्तनशील, भूतमात्र-स्वभाव होतीं तो उनमें मूल्य की अभिव्यक्ति न होती। तमोगुण वस्तुगत जाड्य का कारण है। इसको वैज्ञानिक परिभाषा में स्थितिशीलता (इनर्शिया) कहते हैं। तमोगुण के साथ रजोगुण भी वस्तुओं में सन्निविष्ट है जो उन्हें क्रियाशील, परिवर्तनशील बनाता है। जड़ पदार्थों में जो प्राकृतिक परिवर्तन निसर्गनियमानुसार घटित होते रहते हैं वे भी भोग-साधन अतएव मूल्यवान् हैं। इस परिवर्तन के फलस्वरूप सत्वगुण की कम–ज्यादा अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति का सीधे मूल्य से सम्बन्ध माना जा सकता है। उदाहरणत: एक नाले के बहते पानी को अवरुद्ध कर दिया जाय तो उसमें पानी की गति के अवरोध से जो परिवर्तन घटित होगा वह पानी को खराब ज़रूर कर देगा क्योंकि गन्दगी संचित होने के कारण वह पीने लायक नहीं रह जायेगा। किन्तु इसी कारण उस पानी में कुछ कृमि-कीट पनपने लगेंगे जिससे वह अन्य दृष्टि से मूल्यवान् हो जायेगा। प्राणिविज्ञान के अध्ययन के लिए ऐसे पानी का बहुत उपयोग हो सकता है।

कुछ परिवर्तन मनुष्य द्वारा भी निर्मित होते हैं। सांख्य-बिचारानुसार ये भी प्राकृतिक या नैसर्गिक परिवर्तन हैं। जो बुद्धि मनुष्य–शरीर में क्रियाशील है वही जड़ विश्व में भी महत् तत्त्व के विकारभूत तन्मात्रादि के रूप में काम करती है। सुख–दुःख–मोहात्मक अभिव्यक्ति मनुष्य की क्रियाओं में जैसी होती है वैसी ही अभिव्यक्ति (सत्वं ऋजु प्रकाशकं इष्टं उपष्टंभकं चलं चरजः। गुरु वरणकमेव तमः·········) जड़ पदार्थों की क्रियाओं में भी होती है। इन अभिव्यक्तियों में कोई मौलिक भेद मानना आवश्यक नहीं है।

वस्तुमात्र में सप्रयोजन क्रियाशीलता होने के कारण तथा भोगार्थ उनके विभिन्न और अधिकाधिक जटिल संघात बनते-बिगड़ते रहने के कारण मूल्यों को वस्तु या तथ्यों से अभिन्नतया संश्लिष्ट मानना सांख्यमतानुसार तर्क-संगत ही है। केवल सांख्य–विचार की एक विचित्रता का निर्देश कर देना होगा। व्यक्त विश्व सांख्यमत में विकार है। वह मूल्य के अपकर्ष का निदर्शक है। मिट्टी से घट जैसे अनेकानेक विभिन्न आकार तथा उपयोग वाले पदार्थ बनाये जा सकते हैं। मिट्टी इन सबकी 'प्रकृति' है जबकि ये पदार्थ उसके विकार हैं। 'प्रकृति' अधिक मूल्यवाहिका है जबकि विकार मूल्य ह्रास की स्थितियां हैं। लोक-व्यवहार इस दृष्टि के विपरीत हुआ करता है। लौकिक दृष्टि से मिट्टी का मूल्य घटादि की तुलना में नगण्य ही है। सांख्य-मत के इस वैचित्र्य के मूल में यह विचार है कि कोई भी अभिव्यक्ति ससीम होती है। व्यक्त की तुलना में अव्यक्त की सीमाएं कहीं अधिक व्यापक होती हैं।

नारायण शास्त्री द्राविड़

उन्मीलन : वर्ष २, अंक २
जुलाई १९८६

१

पुस्तक समीक्षा

भारतीय परम्परा के मूल स्वर
ले. प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पांडे, प्र. नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,

पुस्तक में विद्वान् लेखक के चार व्याख्यान संगृहीत हैं, और एक उपसंहार जोड़ा गया है। व्याख्यानों के शीर्षक हैं–'सम्भवामि युगे युगे' (उपशीर्षक 'सनातनता और ऐतिहासिकता)' 'आत्मानं विद्धि' (उपशीर्षक 'अध्यात्म विद्या और योग') 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं' गुहायाम्' (उपशीर्षक 'नैतिक आदर्श और सामाजिक यथार्थ'), और 'रसो वै सः' (उपशीर्षक 'अनुभूति और अभिव्यक्ति') ।

लेखक भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, और इतिहास के लोकविश्रुत विद्वान् और विचारक हैं। समीक्ष्य व्याख्यानमाला के लिए उन-सा मनीषी मुश्किल से ही मिलता। समीक्ष्य पुस्तक भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा की पहचान का एक प्रबल, विचारोत्तेजक प्रयत्न है। लेखक की विवेचन-शैली उच्चस्तरीय है, दृष्टि तलस्पर्शिनी है, और भाषा सशक्त है, जो अर्थ-सहनन से फटी पड़ती है।

भारत अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की खोज में भटक गया है। भारतीय संस्कृति को मिश्र संस्कृति, सामासिक संस्कृति (कम्पोजिट कल्चर), हिन्दुत्व और इस्लाम की मिली-जुली 'गंगा-जमुनी' संस्कृति सिद्ध करने की धुन में ऐसी मानसिकता को जन्म दिया जा रहा है जिस से वास्तविक भारतीय संस्कृति के स्वरूप-विसर्जन, स्वरूप-च्युति, की प्रबल आशङ्का उत्पन्न हो गयी है। भारतीय संस्कृति के प्रति प्रतिबद्ध प्रतिभाओं को इस से सतर्क रहने की आवश्यकता है। खेद है कि ऐसी प्रतिभाएँ विरल से विरलतर होती जा रही हैं। उन का प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः राजनीतिकीकरण जो घटित हो रहा है! पांडेजी इन विरल प्रतिभाओं में अग्रगण्य हैं। वे इस दिशा में बहुत दूर निकल गये हैं। वे केवल भारतीय संस्कृति को सामासिक मानने से ही इन्कार नहीं करते, वे सामासिक संस्कृति के सामान्य सिद्धान्त को मान्यता ही नहीं देते, अर्थात् उन की दृष्टि में संस्कृति कभी सामासिक हो ही नहीं सकती। इस प्रकार वे तद्विषयक अनेक समस्याओं से बच जाते हैं, किन्तु हम देखेंगे कि वे कई नयी समस्याएँ भी खड़ी कर लेते हैं।

वस्तुतः स्थिति इतनी सरल नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रथम ज्ञातव्य तो यह है कि

आज के सामासिक संस्कृतिवादी संस्कृति के अन्तर्गत सभ्यता को भी लेते हैं, और पांडेजी भी मानते हैं कि सभ्यता सामासिक हो सकती है, कि 'भारतीय सभ्यता में नाना संस्कृतियों का मेल-जोल देखा जा सकता है।' (पृ. २०) संस्कृति और सभ्यता में भेद है सही किन्तु क्या उन में अन्तर्व्यापार नहीं हो सकता ? वस्तुतः सामाजिक जीवन को दो सर्वथा पृथक् प्रकोष्ठों में नहीं बाँटा जा सकता। संस्कृति कोई निश्चित और निश्चल मात्रा नहीं है जो बाह्य प्रभाव के प्रति अभेद्य हो। उस की नित्यता भी परिणामि-नित्यता की कोटि की ही हो सकती है। उस का अपना गति-विज्ञान होता है, उस की गति-प्रगति के लिए नोदन बाहर से भी आ सकता है। आज ही देख लीजिए। हमारी सांस्कृतिक शुद्धता आज कहां रह गयी है ? भारतीय संस्कृति का एक बड़े पैमाने पर पश्चिमीकरण हो रहा है। क्या रसेल ने नहीं कहा था कि एशियाई अथवा भारतीय पाश्चात्यों से भी अधिक पाश्चात्यीकृत हो जाने वाले हैं ?

वस्तुतः भारतीय संस्कृति में परिवर्तन की प्रक्रिया आरंभ से ही घटित हो रही है। पांडेजी ने जिस संस्कृति का स्वरूप परिभाषित किया है वह भारतीय संस्कृति का मोटे तौर पर वह रूप प्रतीत होता है जो उपनिषत्-काल से सन्त-काल के बीच में परिनिष्ठित हुआ है। उदाहरण के लिए आत्म-ज्ञान को लें। पाँडेजी इसे भारतीय संस्कृति की आत्मा घोषित करते हैं। किन्तु वेदमन्त्र-काल से यज्ञयाग-काल तक तो आत्म-ज्ञान के प्रति विशेष आकर्षण दिखलायी नहीं पड़ता। उस में तो देवताओं से लेन-देन ही का प्राधान्य प्रतीत होता है। आत्म-ज्ञान को उपनिषत्-काल में प्राधान्य प्राप्त होता है। उस के बाद कल्पसूत्र और स्मृति-वाङ्मय में उस का महत्त्व घट जाता है। पुराणों में देवताओं की भरमार हो जाती है और धर्म बहिर्मुखीभाव को प्राप्त होता है। तन्त्रों में ही आत्म-ज्ञान का स्वर कब ऊँचा हुआ ? वैष्णव परम्परा में भक्ति पर बल है, आत्म-ज्ञान पर नहीं। सर्व साधारण की दृष्टि उपासना-द्वारा फल-प्राप्ति पर रहती है, आत्म-ज्ञान पर नहीं। शूद्रों के प्रति हमारा दृष्टिकोण आत्मज्ञ अथवा आत्म-जिज्ञासु का दृष्टिकोण रहा ही नहीं। मोक्ष भी हम कितना चाहते हैं, और कैसा मोक्ष ? **रामायण** में आत्म-दर्शन और मोक्ष कहीं परम पुरुषार्थ के रूप में नहीं उभर पाये। धर्म बहिर्मुखी वृत्ति से आरम्भ होकर अन्तर्मुखी वृत्ति की ओर उपसर्पण करता है। और अन्तर्मुख धर्म ही आत्मज्ञानोन्मुखी संस्कृति का पुरोधा होता है। किन्तु आवश्यक नहीं कि यह उपसर्पण ऋजुरेखाकार ही हो। धर्म कभी-कभी अन्तर्मुखता से बहिर्मुखता की ओर प्रतिगमन करता भी पाया जाता है, जैसा उक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है। वस्तुतः आज पुनः अन्तः पर बाह्य का आक्रमण आरम्भ हो गया है। आज किसे आत्म-ज्ञान की धुन और मोक्ष की चिन्ता है ?

इसी प्रकार भारत में इस्लाम के प्रवेश से स्थिति में कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य आया है, जिस का सजग चिन्तन-विवेचन अपेक्षित है। ताराचन्द की तद्विषयक शोध पुनरीक्षणीय है।

तथापि 'सामासिक संस्कृति' के पक्षधरों से आशङ्का यह है कि उन के हाथों मूल भारतीय संस्कृति, अथवा भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, इस्लामी, ईसाई और तथोक्त सेक्युलरवादी तत्त्वों के नीचे दब कर विकृत और विनष्ट न हो जाँय। अतः पांडेजी की एतद्विषयक स्थापना एक चेतावनी के रूप में ग्रहणीय है।

हमारा स्वमत है कि भारतीय समाज और सभ्यता को सामासिक मानना ही होगा, किन्तु संस्कृति को अन्यों से किसी सीमा तक प्रभावित मानते हुए भी सामासिक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः भारत में राष्ट्रीय संस्कृति एक ही है, जिसे आर्य अथवा हिन्दू, संस्कृति कहा जा सकता है; बौद्ध, जैन, सिख, तथा अन्य भारत-मूलीय 'अहिन्दू',अर्द्ध-हिन्दू अथवा हिन्दुत्व-भ्रष्ट संस्कृतियां, वस्तुतः संस्कृतियां न होकर उपसंस्कृतियां हैं, हिन्दुत्वोपजीव्य संस्कृतियाँ हैं। यही दशा लोकायत-प्रतिबिम्बी 'सेक्युलर' संस्कृति की है। वह अधिक से अधिक उपसंस्कृति का दर्जा पाने की अधिकारी है। और उस विशुद्ध लोकायत की तो कोई संस्कृति ही नहीं है जो केवल निषेधोपजीवी है और जिस के विषय में जयन्त भट्ट लिखता है—

न हि लोकायते किञ्चित् कर्तव्यमुपदिश्यते।
वैतण्डिककथैवासौ, न पुनः कश्चिदागमः॥ [2]

कर्तव्योपदेश-शून्य लोकायत वितण्डावाद मात्र है, न कि कोई आगम, जिस से किसी संस्कृति की प्राणप्रतिष्ठा सम्भव हो। और अभारतमूलीय संस्कृतियां विसंस्कृतियां अथवा प्रतिसंस्कृतियां हैं। वस्तुतः हिन्दू संस्कृति को राष्ट्र की अभिमानी संस्कृति कहना चाहिए, उपसंस्कृतियां आदि अनुशयी मात्र हैं।[3]

प्रस्तुत पुस्तक की प्रास्थानिकी, प्रस्थानबिन्दु-व्यवस्था, मेथडॉलोजी, क्या है? यह प्रश्न समीक्षा को टेक्निकल और शास्त्रीय बनाने के लिए नहीं उठाया गया है। यह मात्र इस लिए किया गया है कि उस की विषय-प्रतिपादन-प्रक्रिया की प्राणप्रद व्याप्तियों, मूल अभ्युपगमों, और स्वयंसिद्धियों का पता चल सके। यह उन पर आधृत, उन से निःसृत, और उन से अनुप्राणित सिद्धान्तों की खोज और समीक्षा से अधिक आवश्यक है।

वस्तुतः लेखक द्वारा गृहीत और व्यवहृत प्रास्थानिकी के कम से कम तीन सूत्र हमारे हाथ लगते हैं जिन पर विचार अपेक्षित है। एक सूत्र तो वही है जिस की समीक्षा हम ऊपर कर आये हैं—भारतीय संस्कृति अथवा किसी भी संस्कृति को सामासिक न मानना। दूसरा यह कि संस्कृति अपने व्यावहारिक रूप से नहीं अपितु आदर्शों से परिभाषित होती है। तीसरा यह कि संस्कृति के इतिहास के दो आयाम हैं—एक है सामासिक परम्परा के रूप में संस्कृति का स्थूल इतिहास और दूसरा अनन्त मूल्यानुसन्धानात्मक परमार्थ की ओर क्रमिक उपसर्पण के रूप में उसका सनातन इतिहास। इन में से प्रथम सिद्धान्त-सूत्र की समीक्षा हो चुकी है।

दूसरा सिद्धान्त-सूत्र आपाततः तो निर्दोष प्रतीत होता है, किन्तु उस की प्रखर सीमाएँ हैं। आदर्श यदि आदर्श ही रह जाता है, व्यवहार से नितान्त कटा-फटा, तो वह हो कर भी नहीं है। निर्विवासा-मुमुक्षा का आदर्श ले लीजिए। उपनिषत्काल में यह भारतीय संस्कृति का चरम आदर्श प्रतीत होता है। यह केवल इसलिए नहीं कि वह सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित होता रहा, बल्कि इस लिए भी कि श्रमण, ब्राह्मण, और राजन्य के जीवन-मार्ग के निर्धारण

---

२. जयन्त भट्ट, न्यायमंजरी. प्रमाण-प्रकरण, पृ. २४७.

३. जीवोंके सन्दर्भ में 'अभिमानी' और 'अनुशयों' के विभाग के लिए देखिए शङ्कर, शरिरकभाष्य ३.१.२४

और निर्माण में उस का हाथ स्पष्ट दिखायी देता है। स्थितप्रज्ञ का आदर्श भी उन के व्यवहार को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित करता प्रतीत होता है। वैज्ञानिक पद्धति से लिखित किसी परम्पराप्राप्त इतिहास के अभाव में इतिहास का यथेष्ट साक्ष्य तो अप्राप्य है किन्तु इतिहास-पुराण अथवा पुराणेतिहास से इस धारणा को बल अवश्य मिलता है। किन्तु यह भी स्मर्तव्य है कि आगे चल कर मुमुक्षा निर्बल पड़ती गयी। हमारे तार्किकों में तो मुमुक्षा अथवा स्थितप्रज्ञता के आदर्श से प्रेरित होने के लक्षण मिलते ही नहीं। उन्हें येन-केन प्रकारेण स्वसम्प्रदाय की गरिमा और पर-सम्प्रदाय की लघिमा प्रदर्शित करने में अपनी इतिकर्तव्यता दिखायी देती है। नव्यन्याय और नव्यवेदान्त का स्वर मुमुक्षा का स्वर नहीं और न मुमुक्षा का उद्रेचक है। ऐसी दशा में वे मोक्ष-सिद्धान्त की चाहे जितनी दुहाई दें उन का आदर्श मोक्ष नहीं माना जा सकता। यही दशा बौद्ध और जैन तार्किकों की है। आज के विश्वविद्यालयीय दर्शनज्ञों में यदि कहीं मुमुक्षा की महत्ता घोषित पायी जाती हो तो उसे भी मोक्ष-दर्शन से प्रेरित नहीं बल्कि चक्रभ्रमिवत् ही समझना चाहिए।

वस्तुतः आदर्श और आदर्श में विवेक अपेक्षित है। एक इच्छा सामान्य का विषय है और दूसरा एषणा अथवा ईप्सा का। इच्छा तो सभी की राजराजेन्द्र अथवा अनन्तकोटि ब्रह्माण्डाधिपति बनने की हो सकती है, किन्तु वह हमारे अन्तःकरण की एक क्षीण सी ऊर्मि से अधिक महत्त्व की आस्पद नहीं, जब कि एषणा हमें प्रयत्न की ओर उन्मुख करती है। तो मध्यकाल के हमारे दार्शनिक-तार्किक मोक्ष की सामान्य इच्छा भले रखते हों किन्तु उन में मोक्षैषणा का प्रमाण नहीं मिलता। अतः मोक्ष को इन का आदर्श घोषित करने का विशेष औचित्य नहीं दिखायी देता।

तीसरा सिद्धान्त-सूत्र भी विचारणीय है। संस्कृति का एक स्थूल इतिहास होता है और एक सूक्ष्म भी। स्थूल इतिहास की प्रतिनिधि तो संस्कृति की विविध संस्थाएं हैं और सूक्ष्म इतिहास का प्रतिनिधित्व करते हैं एक ओर उस के सन्त, महात्मा, और अन्य आदर्श चरित्रनायक जो उस के मानों-मूल्यों-मर्यादाओं के घनीभूत प्रतिफलन प्रतीत होते हैं और दूसरी ओर उस का साहित्य और कला, जिसमें संस्कृति की साधना के इतिहास के विविध चरण देखे जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में पांडेजी ने दो इतने गरिष्ठ वाक्य रचे हैं जिन का अर्थ लगाने में अच्छे-अच्छे चकरा जायेंगे। देखिए—"व्यक्तिगत अथवा सामूहिक व्यवहार की कारणभूमि से प्ररूढ़ सामाजिक चेतना के अभिसंस्करण के काल, क्रम और युक्ति का साक्ष्य के आधार पर अनुमान यह तो व्यावहारिक इतिहास की सुविदित विधि है। दूसरी ओर साधन, उपलब्धि एवं सम्प्रेषण के सन्दर्भ में मूल्य-संकेतों से उन की अर्थ-निरुक्ति, एवं अर्थ रूप में विकसित प्रतीतियों के द्वन्द्वात्मक विकास का विवेचन, इन दो व्यापारों में आदर्श इतिहास की अन्वेषण प्रक्रिया अन्तर्निहित है।' (पृ० ६)

अच्छा, तो संस्कृति का एक स्थूल और बाह्य इतिहास होता है, संस्कृति के शरीर का इतिहास होता है, तथा दूसरा सूक्ष्म और आन्तर इतिहास होता है, संस्कृति की अन्तरात्मा का इतिहास होता है। नृतत्त्वविज्ञान, समाजविज्ञान आदि में संस्कृति का प्रायः स्थूल इतिहास ही अनुसन्धान का विषय होता है। उस इतिहास का एक पाठ्यक्रमातीत विषय है, क्योंकि स्वतन्त्रतामूलक होने के कारण संस्कृति विज्ञान का विषय नहीं है, समाजविज्ञान का भी

नहीं। (पृ.९) किन्तु संस्कृति के दोनों प्रकार के इतिहास परस्पर इतने जुड़े हुए हैं कि एक के ज्ञान के बिना दूसरे का ज्ञान अधूरा है । पांडेजी ने ठीक ही कहा है "संस्कृति की प्रक्रिया एक-साथ ही आदर्श को वास्तविक और वास्तविक को आदर्श बनाने की प्रक्रिया है।" (पृ.८) और इतना ही क्यों ? "नैतिकता का सूत्र...सभ्यता और संस्कृति को जोड़ता है ." (पृ.८) और "संस्कृति के द्वारा ही समाज परिभाषित होता है।" (पृ.९) इस प्रकार संस्कृति, सभ्यता, और समाज के प्रति एक प्रकार की दृष्टि तात्त्विक संस्कृति-बोध को जन्म दे सकती है। "काल में घटित और विघटित ऐतिहासिक संरचनाएं संस्कृति का बाहरी कलेवर हैं। उस में अभिव्यक्त अकालिक मूल्यों की चेतना उस का आन्तरिक पक्ष अथवा स्वरूप है।" (पृ.९) किन्तु ध्यातव्य है कि कालिक घटनाएँ-विघटनाएँ ही संस्कृति की अन्तरात्मा तक पहुँचने का राजमार्ग भी हैं। ऐसा न होने से संस्कृति पर चित्र-विचित्र कल्पना-प्रसूत भ्रान्तियों का दुर्भेद्य खोल चढ़ जाता है, और उस की अन्तरात्मा की तो क्या कथा, उस का कलेवर भी आंखों से ओझल होजाता है। ऐसा बहुत हुआ है।

पांडेजी के प्रथम व्याख्यान का शीर्षक है 'सम्भवामि युगे-युगे'। उन का मत है कि परम्परा की ग्लानि की प्रत्येक चुनौती ज्ञानधारा के एक नये आविर्भाव का कारण बनी। यह व्याप्ति कुछ दूर तक चलती अवश्य है किन्तु अधिक दुरगामी नहीं है। सपादसहस्र वर्ष-व्यापी यवन-तुरूष्क-बाधा-काल में यदि यहां कोई ज्ञानधारा प्रवाहित हुई तो वह उक्त बाधा से प्रायः असम्पृक्त और अप्रसक्त ही रही। आज ही देख लीजिए। कितनी-सारी चुनौती-सुरसाएं हमारी सांस्कृतिक अस्मिता और अस्तिता को लील लेने के लिए वदन बढ़ाती जा रही हैं, किन्तु एक भी हनुमान प्रकट नहीं हो रहा है। उन सुरसाओं की भीषणता का सम्यक् बोध ही कहां है ? आज हमारा सर्वस्व दांव पर है—चिरसंचित संस्कृति और उस के संवाहक दोनों ही। इस की प्रभावी चेतना से अनुप्राणित किस ज्ञानधारा का आविर्भाव हो रहा है ? भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में घटमान संस्कृति-चिन्तन इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। वस्तुतः तुरुष्क-बाधा-काल की विकराल स्थिति आज नव-नव रूपों में दुहराई जा रही है।

पांडे जी अपनी व्याप्तियों की उद्भावना में उन के प्रतिबन्धक और विघातक किन्तु दुर्निवार तथ्यों की स्थान-स्थान पर उपेक्षा कर गये प्रतीत होते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

पांडेजी लिखते हैं, "प्राचीन परम्परा में भारतीय धर्म की चर्चा नहीं मिलती है, चर्चा मिलती है धर्म अथवा आर्यधर्म की।" (पृ० १३) किन्तु पौराणिक धर्म ही नहीं स्मार्त धर्म भी इस स्थापना के विपक्ष में साक्ष्य प्रस्तुत करता पाया जाता है। प्रायः समस्त पुराण एक स्वर से धर्म का व्यवस्थापन भारत-भूमि के लिए करने का दावा करते हैं, क्योंकि केवल भारत-भूमि को ही वे कर्म-भूमि, अतः धर्म-भूमि, मानते हैं।[4] पुराण ही नहीं कल्पसूत्र और स्मृति-वाङ्मय भी केवल भारत-भूमि के लिए धर्म का प्रवचन करते पाये जाते हैं। और भारत ही क्यों, उस के प्रदेश विशेष ही धर्मभूमितया स्वीकृत दिखायी देते हैं। एक उपपुराण की व्यवस्था है—

४.विष्णु-पुराण २.३.२२

कुरुक्षेत्राश्च- मत्स्याश्च, पाञ्चालाः शूरसेनकाः
एते देशाः पुण्यदेशाः, सर्वे चान्ये च निन्दिताः ।।[5]

एक स्मृति का विधान है—

सिन्धु-सौवी–सौराष्ट्र, तथा प्रत्यन्तवासिनः,
कलिङ्ग–कौङ्कणान्, बङ्गान् गत्वा संस्कारमर्हति ।।[6]

एक धर्मसूत्र का वचन है—

अवन्तयोऽङ्ग-मागधाः, सुराष्ट्राः दक्षिणापथाः,
'उपावृत्-सिन्धु-सौवीरा एते सङ्कीर्णयोनयः ।।

आरट्टान्, कारस्करान्, पुण्ड्रान्, सौवीरान्, बङ्गान्, कलिङ्गान्, प्रानूनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठ्या वा । अत्राप्युदाहरन्ति—

'पद्भ्यां स कुरुते पापं यः कलिङ्गान् प्रपद्यते ।
ऋषयो निष्कृतिं तस्य प्राहुर्वैश्वानरं हविम् ।।'[7]

पुराणों में अनेकत्र कहा गया है कि धर्म युगानुसारी होता है और कि युग-व्यवस्था केवल भारत-भूमि के लिए है ।[8] मनु की व्यवस्था के अनुसार आर्यावर्त का विशेषतः पश्चिमी और मध्य भाग धर्म-भूमि है, जहां कृष्ण मृग स्वभावतः विचरण करता है वही यज्ञिय देश है, और शेष देश म्लेच्छ देश हैं । कहाँ तक कहा जाय, पौराणिक और स्मार्त धर्म, अथवा आर्य धर्म की परिकल्पना भारतीय धर्म के रूप में ही हुई है । पांडे जी मनु का प्रमाण देते हुए स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'जनपद आदि के धर्म की सूचना मिलती है और यह स्वीकृत है कि देश, काल, जाति, अवस्था आदि से धर्म अवच्छिन्न होता है ।' (पृ. १३) इस समस्या को समाहित करने के प्रयास में उन्होंने अपने लिए अनावश्यक उलझाव उत्पन्न कर लिये हैं । वे लिखते हैं, "देशाचार से अधिक महत्त्व सदाचार का था ।" (पृ. १४) प्रमाण ? क्या किसी धर्मशास्त्र अथवा पुराण में ऐसी व्यवस्था है कि भारत की कर्मभूमि को छोड़कर भोग–भूमियों में भी सदाचार सम्भव है ? मनु ने तो सदाचार का लक्षण ही ऐसा किया है कि वह पश्चिमोत्तर भारत की सीमाओं में आबद्ध हो गया है । पांडेजी इस का उल्लेख करते हैं किन्तु इस के फलितार्थ को गम्भीरता से नहीं लेते । आर्य धर्म का अर्थ ही था आर्यों द्वारा, अथवा आर्यधर्मशास्त्र में परिभाषित धर्म, जो भारतीय ही हो सकता है । लगता है कि पांडे जी को किसी प्रकार का देश-काल-पात्रानवच्छिन्न निर्गुण-कल्प धर्म सामान्य-विवाक्षित है, जो परिभाषया ही देशाचार से अतीत होता है ।

भारतीय संस्कृति की अन्यों के प्रति उदारता और सहिष्णुता सुविदित है । पांडे जी का मत है कि 'इस उदारता का मूल संशयवाद या व्यक्तिवाद नहीं था ।' (पृ. १५) क्या था ? "स्वानुभूति को परम प्रमाण मानने से और अधिकार-भेद स्वीकार करने से ही यह उदारता

---

५. सौरपुराण १७.५६-५७
६. देवल-स्मृति १६
७. बौधायन-धर्मसूत्र १.२.१४-१६
८. विष्णु-पुराण २.४.१९; वायु-पुराण १.४९.२२; ब्रह्माण्ड-पुराण २.१९.२४; आदि-आदि
९. मनु-स्मृति २.१७-२४

पैदा होती है।'' (वहीं) 'ही' पर ज़ोर मेरा है। यह 'ही' उत्तर के अतिसरलीकरण में औचित्य की सारी सीमाएँ लांघ जाता है। पांडेजी द्वारा निर्दिष्ट कारण अविवाद्य हैं, किन्तु वे पर्याप्त नहीं हैं। इस उदारता का कारण संशयवाद और व्यक्तिवाद भी था, जिसे पांडेजी नकार कर चले हैं, और वक्ष्यमाण कारण भी थे।

प्रस्तुत सन्दर्भ में संशयवाद का आधार यह कल्पना प्रतीत होती है कि दूसरे भी सत्य हो सकते हैं। यही कारण है कि भारतमूलीय धर्मों के अनुयायी विधर्मियों से भी दीक्षा लेते हैं और उन की क़ब्रें भी पूजते हैं —जी हाँ, वस्तुतः उन की क़ब्रें भी जो भारतमूलीय धर्मों और उन के अनुयायियों की क़ब्रें खोदने में 'शहीद' हो गये। और जहाँ तक व्यक्तिवाद का प्रश्न है, वह तो यहां इतना रहा है कि 'अन्यों की गति अन्य जानें' कर के अपना कल्याण पर्याप्त समझा गया।

वस्तुतः यहाँ उदारता से अधिक उदासीनता की वृत्ति क्रियाशील रही है। यहाँ विधर्मी विगर्ह्य रहा है, विनाश्य नहीं।

हमारी तथोक्त उदारता के अन्य कारण भी हैं। सामी धर्म (यहूदी, ईसाई, और इस्लाम) सृष्टि और मानव-जीवन दोनों को कालतः परिच्छिन्न और अपुनरावर्तमान मान कर चलते हैं। इस कर्मभूमि के बाद दूसरी कर्म-भूमि नहीं, इस कर्मयोनि के बाद दूसरी कर्मयोनि नहीं। अतः सामी धर्मों-संस्कृतियों में एक प्रकार की त्वरा-उद्विग्नता पायी जाती है। उन का प्रेरक मन्त्र है—अभी नहीं तो कभी नहीं। अतः वे अधिक कट्टर और असहिष्णु पायी जाती हैं। उनके पास इतना अवकाश नहीं कि सत्य की खोज में अथवा विश्व को सन्मार्ग पर आरूढ़ करने में कालक्षेप कर सकें। यह क्षिप्रकारिता की प्रवृत्ति उन्हें संसार को अविलम्ब सन्मार्ग और सद्धर्म में दीक्षित करने के लिए उतावला कर देती है। उनकी असहिष्णुता का यह एक प्रधान कारण है। इन के विपरीत भारतीय संस्कृति सृष्टि और जीवन को पुनःपुनः आवर्तमान्, प्रवाह से अनादि-अनन्त, मान कर चलती है। यहां काल निरवधि है। इस बार नहीं तो कभी आगे सुधर जायेंगे, त्वरा किस बात की? इस प्रवृत्ति ने हमें अपेक्षया अकर्मण्य, शिथिल और विरक्त बना दिया। इस अकर्मण्यता, शिथिलता, और मन्थर गतिता को हम सहिष्णुता, उदारता, और न जाने क्या-क्या कह कर पुकारते हैं। हमारी श्लथ, दीर्घसूत्री जीवन-दृष्टि सब कुछ चलने देती है। धर्म में कोई मूढ़ग्राह कहीं से घुस आये, हम उसे चलने देते हैं। मानों सब-कुछ चलने देना ही हमारी संस्कृति का मूल मन्त्र हो। अल्बेरूनी की उक्ति है—यहां उच्चात्युच्च तत्त्वों का निम्नातिनिम्न तत्त्वों के साथ ऐसा घालमेल कर दिया जाता है मानों किसी ने हीरे-मोती ठीकरों के साथ घालमेल कर दिये हों। वह यह भी कहता है कि यहां सुक़रात जैसी प्रतिभाएँ भी नहीं हैं जो इन्हें विलग कर सकें, रूढ़िवादियों का कोप-भाजन बन कर भी। यहां जब अपने ही प्रति ऐसी ढीली-ढाली वृत्ति है तब अन्यों के प्रति तो औदासीन्यगर्भ औदार्य बरतना ही है। अबुऽल-कलाम आज़ाद ने इस सम्बन्ध में पते की बातें कही हैं। उन के अनुसार हमारी तथोक्त सहिष्णुता और उदारता वास्तविक नहीं अपितु हमारे सिद्धान्त-दौर्बल्य का प्रतीक है। उन्हीं के शब्दों में—

''निस्सन्देह विचार और व्यवहार की इस सहिष्णुतामूलक सोच को, जो हिन्दुस्तान के इतिहास में बराबर उभरती रही है, हमें स्वीकार करना चाहिए। लेकिन मामला इतने

पर ही समाप्त नहीं हो जाता। जीवन की वास्तविकताओं की अपेक्षाओं की यहां कुछ विचित्र दशा है। यहां हम किसी एक पार्श्व ही के होकर नहीं रह जा सकते। दूसरे पार्श्वों का भी ध्यान रखना पड़ता है, और विचार और व्यवहार का हर पथ इतनी दूर तक चला गया है कि कहीं न कहीं जा कर सीमाङ्कन की रेखाएँ खींचनी ही पड़ती हैं। यदि ऐसा न करें तो ज्ञान और चरित्र की सभी मर्यादाएँ प्रकम्पित हो जायें और नैतिक मूल्यों का कोई स्थायी रूप अवशिष्ट न रहे। सहिष्णुता निश्चय ही एक सद्गुण है किन्तु साथ ही आस्था की बलवत्ता, सिद्धान्त की परिपक्वता, और विचार की दृढ़ता की गुणवत्ता को भी नकारा नहीं जा सकता। अत: यहां कोई न कोई सीमा-रेखा आवश्यक होनी चाहिए जो इन सभी विशिष्टताओं को अपने स्थान पर स्थिर रख सके। नीतिमत्ता के सभी विधि-विधान इन्हीं सीमाङ्कनों की रेखाओं से बनते और उभरते हैं। ज्यों ही ये हिलने लगते हैं, नीतिमत्ता की पूरी दीवार हिल जाती है। क्षमाशीलता और सहनशीलता बड़ी ही रुचिरता और शोभनता की बात है, परन्तु यही क्षमाशीलता और सहनशीलता जब अपनी सीमा-रेखा से आगे बढ़ जाती है तो क्षमाशीलता और सहनीशलता नहीं रहती, उसे कापुरुषता और साहसहीनता के नाम से पुकारने लगते हैं।' आज़ाद इस चर्चा को आगे बढ़ाते हैं—

'दो दशाएँ हैं, और दोनों का विधान एक नहीं हो सकता। एक दशा यह है कि किसी विशेष विश्वास और व्यवहार की ज्योति हमारे सामने आ गयी है और हम एक विशेष निष्कर्ष तक पहुँच गये हैं। अब इस के सम्बन्ध में हमारा कृत्यवर्त्म क्या होना चाहिए ? हम इस पर बलपूर्वक जमे रहें अथवा दोलायमान हों ? दूसरी दशा यह है कि जिस प्रकार हम किसी विशेष निष्कर्ष तक पहुँचे हैं उसी प्रकार एक अन्य व्यक्ति भी एक अन्य निष्कर्ष तक पहुँच गया है। और यहां विचार और व्यवहार का एक ही पथ सब के आगे नहीं खुलता। अब हमारा कृत्यवर्त्म इस व्यक्ति के सम्बन्ध में क्या होना चाहिए ? हमारे सदृश उसे भी अपनी राह पर चलने का अधिकार है या नहीं ? सहिष्णुता का वास्तविक क्षेत्र दूसरी दशा है, पहली दशा में वह आयेगी, तो यह सहिष्णुता न होगी, आस्था की दुर्बलता और निश्चय का अभाव होगा।' आज़ाद आगे जोड़ते हैं—

'यदि सहिष्णुता की सीमाएँ यहां तक बढ़ा दी गयीं कि वे आप की आस्थाओं में भी हस्तक्षेप कर सकती हैं और आप के निर्णयों को भी नरम कर दे सकती हैं, तो फिर वह सहिष्णुता न हुई, वैचारिक दृढ़ता की कमी हो गयी।' आज़ाद का निष्कर्ष है—

'यहां (हिन्दुस्तान में) विचार और सिद्धान्त की कोई ऊँचाई भी मूढ़ग्राह और अविद्या की गिरावट से अपने-आप को सुरक्षित न रख सकी, और एक ओर विद्या और बुद्धि तथा (दूसरी ओर) मूढ़ग्राह और अविद्या में सदा समझौते का सिलसिला जारी रहा। इन समझौतों ने हिन्दुस्तानी मस्तिष्क का रूप और आकार बिगाड़ दिया। उस की वैचारिक प्रगतियों का समस्त सौन्दर्य प्रतिमोपासना-मूलक विश्वासों की धूलि में छिप गया।"१०

अन्ततः भारतीय संस्कृति के अभिमानी विधर्मियों को जातितः भिन्न मानते रहे हैं।

---

१०. अबुऽल-कलाम आज़ाद, तर्जुमानुऽल-कुर्आन, खण्ड १ (तृतीय सं॰, नयी दिल्ली: साहित्य अकादमी, १९८०), पृ. ३२४–३२७

विदेशी तो भोगयोनि के प्रतिनिधि हैं। भला उन में धर्म-प्रचार, उन की धर्म-दीक्षा, का क्या तुक ? ऐसी दशा में उन के प्रति उदासीनता, उपेक्षा, और अवमानना की वृत्ति तो होगी, असहिष्णुता की नहीं। इसी को हम सहिष्णुता और उदारता समझ लें तो बात और है।

पांडेजी अहिंसा को भारतीय परंम्परा के अन्तर्गत सर्वोपरि धर्म मानने के पक्ष में हैं, किन्तु यहां ध्यातव्य है कि पुरातन परम्परा में क्षात्र धर्म और सांग्रामिकता को स्थान शास्त्रत: प्राप्त है। उसे देखते हुए तो 'अहिंसा परमो धर्मः' का स्थान 'दण्डं धर्मं विदुर् बुधाः' ले लेता प्रतीत होता है। हां, अंत्याश्रमी और योगी अहिंसा का जो आदर्श प्रस्तुत करते हैं उस से पांडे जी के वक्तव्य में बल अवश्य आ जाता है। जो हो, पांडेजी इस विषय में कुछ अति कर जाते प्रतीत होते हैं। उन की धारणा है कि भारतीय चेतना देश और काल में विस्तार और विजय के स्थान पर अन्तर्मुख निवृत्ति के द्वारा उन के अतिक्रमण की ओर अधिक आकृष्ट रही है। (पृ. १६) इस प्रकार का मत रखने वाले महानुभावों से क्षात्र धर्म क्यों दुर्लक्षित रह जाता जाता है ? मनु के अनुसार क्षत्रिय का आदर्श ही है :

अलब्धमिच्छेद् दण्डेन, लब्धं रक्षेदवेक्षया ॥[11]

भारत में ऐतिहासिकता की बलि देकर पौराणिकता के लालन-पालन में जो अतिशय रुचि दिखायी देती है पांडेजी उस का भी विरुद गान करने से नहीं चूकते। वे इस प्रवृत्ति को "अलौकिक अर्थ के अनुसन्धान एवं प्रतीकात्मक अर्थ के प्राधान्य" (पृ. १६) का प्रतिफल मानते हैं। उन्हें "इस सांस्कृतिक आत्मबोध में सनातनता का भास मिलता है।" (वहीं) परन्तु यह प्रतीति प्रचलित पुराणों की प्रकृति के प्रायः प्रतिकूल ही प्रतीत होती है। ये स्वस्थ, ज्ञानवर्द्धक, प्रतीकात्मक अर्थ-संयोजन के स्थान पर भ्रामक, अतिशयोक्ति-प्रवण, साम्प्रदायिक, दुराग्रहमूलक, ऐतिहासिक-अनैतिहासिक, काल्पनिक-प्रातीतिक व्याख्यानों से भरे पाये जाते हैं। पांडेजी का कथन है, "मूल पौराणिक परम्परा में प्रतीकात्मक आख्यानों के साथ इतिवृत्तात्मक इतिहास की भी परंपरा समन्वत थी, किन्तु कालान्तर में वह क्षीण हो गई एवं गुप्तोत्तर काल में पौराणिक परंपरा सर्वथा अनैतिहासिक बन गयी। (पृ. १६-१७) तो क्या गुप्तोत्तर काल अधिक आत्मबोध-प्रवण काल था ? पांडे जी अपने वक्तव्य की पुष्टि में आगे लिखते हैं, "१४ वीं शताब्दी तक उत्तर भारत अतीत-विषयक कितने गहरे अन्धकार में डूब गया था, इस का एक उदाहरण पर्याप्त होगा। फ़िरोजशाह तुगलक ने अशोक के दो स्तम्भ अन्य स्थलों से दिल्ली उठवाये थे। उस अवसर पर निमन्त्रित विद्वान् ब्राह्मण इन स्तम्भों के अभिलेख बिल्कुल ही नहीं पढ़ पाये थे।' (पृ. १७) क्या इसे आत्मबोध प्रवणता की पराकाष्ठा समझा जाये ? पांडेजी स्वयं कहते हैं : "१६ वीं शताब्दी तक यह इतिहास का अज्ञान पुरानी संस्कृति के व्यापक अज्ञान का एक अंश मात्र था।" (वहीं) उक्त आत्मबोध-सिद्धान्त कहाँ गया ?

पांडेजी के द्वितीय व्याख्यान का शीर्षक है 'अध्यात्मविद्या और योग।' इस में वैदिक और श्रमण अध्यात्म की मार्मिक व्याख्या की चेष्टा की गई है। श्रमणधारा को प्रायः अवैदिक माना जाता है। अनेक विद्वान् यह मानते हैं कि उस का जन्म उत्तर वैदिक काल में हुआ और

११.मनुस्मृति ७.१०१

वह वेदोत्तर काल में बौद्ध और जैन सम्प्रदायों के प्रभाव से पुष्ट और परिवर्धित हुई। (पृ. ३१) पांडे जी उसे नितान्त अवैदिक मानते हुए लिखते हैं कि "ज्ञान के स्वरूप, मूल और साधना के विषय में बौद्धिक कल्पना और सामाजिक आचार के भेद से श्रमणमार्ग वैदिक मार्ग से भिन्न है, वैदिक कर्मकांड से ही नहीं अपितु प्रसिद्ध वैदिक ज्ञानकांड से भी।' (पृ. ३३) उन का यह दृढ़ मत है कि श्रमण परम्परा.में ठीक वैसा भेद नहीं है जैसा कि परवर्ती काल के निवृत्ति के प्रत्ययों से लक्षित था।" (पृ. ३१) पांडेजी ने श्रमण-परम्परा पर कई अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं।

मुझे यहां पांडेजी से असहमति प्रकट करने का अवसर लेना उचित जान पड़ता हैं। मैं श्रामण्य और ब्राह्मण्य की सगोत्रता का पक्षधर हूं।[12] दोनों को स्वतन्त्र, समानान्तर धाराएँ मान कर चलने में एक बहुत बड़ी तार्किक-ऐतिहासिक बाधा है। श्रामण्य कुल मिला कर एक अतिवाद है जो जीवनवाद की अतियों की प्रतिक्रिया में जन्म लेता है। एक प्रतिस्थापना ह जो जीवनवाद की प्रतियोगिता में प्रादुर्भूत होती है। ऐसी दशा में यही मानना होगा कि जीवनवाद पहले आता है और श्रामण्य बाद में। जीवनवादी धारा का प्रतिनिधित्व सर्वसम्मति से ब्राह्मण्य अथवा वेदवाद करता है, अतः वेदवाद श्रामण्य से प्राचीनतर होना चाहिए। और श्रामण्य वेदवाद में से ही फूटा, ऐसा समझना अयौक्तिक नहीं होगा। इस सम्बन्ध में कतिपय आधार सूझते हैं जिन का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है।

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त (१०.१.९०) में पुरुष के विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण रूपद्वय की चर्चा आती है। अतिवादों के बिकास-क्रम में विश्वमय पुरुष के उपासक कर्मकाण्ड में प्रवृत्त हुए और विश्वोत्तीर्ण पुरुष के उपासक ज्ञानकाण्ड में। क्रमशः दो स्वतन्त्र धाराएँ बन गयीं— एक ओर भोगवाद और कर्मवाद और दूसरी ओर त्यागवाद और कर्मसन्यासमूलक ज्ञानवाद, एक ओर प्रवृत्ति-मार्ग और दूसरी ओर निवृत्ति-मार्ग, एक ओर योग और दूसरी ओर सांख्य जब इन की खाई अधिक चौड़ी और गहरी हो गयी तब यजुर्वेद ने उसे पाटने की चेष्टा की और घोषित किया कि जो लोग विश्वोत्तीर्ण पुरुष को ही सब कुछ समझ बैठते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विश्वमय पुरुष में रत हैं वे घोरतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। पुनः, विश्वमय पुरुष के ज्ञान को अविद्या और विश्वातीत पुरुष के ज्ञान को विद्या की संज्ञा देते हुए यजुर्वेद ने सिद्धान्तित किया कि अविद्या के उपासक घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और विद्या में रत व्यक्ति घोरतर अन्धकार में। फलतः यजुर्वेद ने इन प्रतिद्वन्द्वियों में समन्वय का उपदेश दिया। अथर्ववेद में विद्या और अविद्या से परे भी कुछ उपदेश्य है, ऐसा इङ्गित है, जो समन्वय की कोटि का ही होना चाहिए।[13] यह चेतावनी अधिक काल तक प्रभावी नहीं रही। योग और सांख्य, कर्म और सन्यास की प्रतिद्वन्द्विता ने फिर सिर उठाया। तब कृष्ण ने यजुर्वेद की चेतावनी को नये शब्दों में दुहराया और कहा कि योग और सांख्य को केवल बालक

---

१२. द्रष्टव्य मेरा 'श्रामण्य और ब्राह्मण्य की सगोत्रता' कोसल, III,१–२ (जुलाई १९८० और जनवरी १९८१), और मेरी पुस्तक "फेसेट्स ऑफ इंडियन रिलिज्योफिलोसोफिक'' (दिल्ली-वाराणसी, भारतीय विद्या प्रकाशन, १९८३), अध्याय ९

१३. विद्याश्चवा अविद्याश्च, यच्चान्यदपश्यम्।

पृथक् मानते हैं, अन्यथा उन का गन्तव्य एक हैं, वे एक है। जब यह चेतावनी भी पुरानी पड़ी, और एक ओर धर्मसूत्रकार कर्मसंन्यास को आसुरी प्रथा बतलाने लगे और श्रमण संन्यासी गार्हस्थ्य और कर्ममार्ग की निन्दा करने लगे, तब मनुस्मृति में घोषणा की गयी कि गार्हस्थ्य और संन्यास में कोई विरोध नहीं, और कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों वैदिक मर्यादाएँ हैं।

इस विषय के विस्तार का यहां अवकाश नहीं है, किन्तु इतना और जोड़ना आवश्यक प्रतीत होता है कि वैदिक-अवैदिक विभाग के पीछे एक भ्रन्ति क्रियाशील प्रतीत होती है। वेद आर्यों का आदिग्रन्थ नहीं उपलब्ध आदिग्रन्थ है, और वह भी वस्तुतः ग्रन्थ नहीं ग्रन्थों की-संहिताओं की एक महाराशि है। उन संहिताओं में विविध, कभी-कभी विरोधी, विचार पाये जाते हैं। समस्त संहिताएँ उपलब्ध भी नहीं, समस्त वेद-मन्त्र संगृहीत भी नहीं हो पाये होंगे। यदि वे सब संगृहीत हो कर हमें उपलब्ध होते तो क्या हमारी वैदिक-अवैदिक की कोटिद्वय की सीमाएँ वही रह पातीं जो आज हैं? उपलब्ध संगृहित में भी श्रमण अपर नाम 'मुनियों' के उल्लेख आ ही गये हैं। और उन के प्रति कहीं द्वेश अथवा वैमनस्य का भाव भी नहीं झलकता, बल्कि प्रशंसा ही प्राप्त होती है। पांडेजी ने श्रमणों को ब्राह्मण-विरोधी और वेद-विरोधी बतलाया है। सभी बतलाते हैं। वेद-विरोध, वेद-निरपेक्षता, तो उपनिषदों गीता, शङ्कर, सभी में किसी न किसी स्तर पर पायी जाती है। ब्रह्मावगति की अवस्था में वेद अवेद हो ही जाते हैं। श्रमण निस्त्रैगुण्य-पथ के पथिक होने से शङ्कर आदि के समान विधि-निषेध और फलतः वेद और कर्मकाण्ड से भी परे होने का दावा करते रहे होंगे।

शेष दो व्याख्यानों में भी पांडे जी ने विचारोत्तेजक प्रश्न उठाये हैं। उन का अन्तिम व्याख्यान 'रसो वै सः' (उपशीर्षक 'अनुभूति और अभिव्यक्ति) साहित्य और कला के समीक्षकों को नयी दृष्टिभङ्गी प्रदान कर सकता है। क्या ही अच्छा होता यदि वे इस पर एक स्वतन्त्र कृति दे जाते। 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' (उपशीर्षक 'नैतिक आदर्श और सामाजीक यथार्थ') के अन्तर्गत, तृतीय व्याख्यान में, पांडे जी ने भारतीय नीतिशास्त्र के गठन में अनेक उपयोगी विचार-बिन्दु उद्भावित किये हैं। इन विषयों पर प्रस्तुत लेखक भी कभी बाद में चर्चा छेड़ने का अभिलाषी है।

अन्त में एक बात अवश्य कथनीय है। समीक्ष्य कृति भारतीय संस्कृति को प्रायः सर्वगुणसम्पन्न मान कर लिखी गयी प्रतीत होती है—सर्वगुणसंपन्न अर्थात् गुणों से भरपूर और दोषों से मुक्त। यह बात भुला दी गयी प्रतीत होती है कि इस का तेज़ी से ह्रास हो रहा है। वैसे कई लोगों को तो यह म्रियमाण लगने लगी है। जो हो, इस की ह्रसोन्मुखता निर्विवादप्राय है। इतनी सर्वाङ्गपूर्ण अथवा परिपूर्ण संस्कृति के रहते यह देश लगभग सवा बारह सौ वर्ष तक पददलित और दासता की बेड़ियां में जकड़ा कैसे रहा, और जब बेड़ियाँ खुलने की नौबत

शरीरं ब्रह्म प्राविशद् ऋक्, साम, अथो यजुः ११अथर्व ११.८.२३

१४. बौधायन-धर्मसूत्र २.११.३०

१५.ऋग्वेद १०,१३६

१६ बृहदारण्यक ४-३-२२

आयी तो पश्चिम (पाकिस्तान) और पूर्व (बंगला देश) के भारतीय संस्कृति के करोड़ों संवाहकों को भूखे भेड़ियों के हवाले क्यों करना पड़ा ? फ़ारसी का शेर है

अ़जब आँ नेस्त कि एजा ज़ मसीहा दारी
अ़जब ईनस्त कि बीमारे तू बीमारतर शस्त

अर्थात् 'यह कोई विचित्र बात नहीं है कि ईसामसीह के समान तू मुर्दों को जीवित करने का चमत्कार दिखा सकता है। विचित्र बात यह है कि बीमार और अधिक बीमार हो गया है ।'

वस्तुतः इस स्थिति पर मनन करने से लगता है कि भारतीय संस्कृति की अपनी सीमाएँ हैं, और पर्याप्त प्रखर। समय आ गया है कि उन की खोज की जाय और उन के निवारण के प्रश्न पर दायित्वपूर्ण चिन्तन किया जाय ।

जो हो, पांडे जी की पुस्तक मौलिक चिन्तन का परिणाम है, जिस पर और भी विमर्श अपेक्षित है ।

४२/५८, रामरत्न वाजपेयी मार्ग,
नरही, लखनऊ २२६००१.

हर्षनारायण

उन्मीलन : वर्ष २, अंक २
जुलाई १९८६

२

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास : खण्ड २

सम्पादक : प्रो० दयाकृष्ण; राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. सं. ४८०, मू. ४३.०० रु.

सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. दयाकृष्ण द्वारा सम्पादित एवं राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित "**पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, खण्ड २**" हिन्दी जगत् के स्नातकोत्तर स्तर के छात्रों, अध्यापकों एवं दर्शन-प्रेमियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रची गई पुस्तक है। इस पुस्तक का प्रथम खण्ड पहले ही प्रकाशित हो चुका है, द्वितीय खण्ड की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है तथा इसके सातत्य में पुस्तक का एक तीसरा खण्ड अवश्य प्रकाशित किया जायगा जो हेनरी बर्गसां के बाद के समकालीन दार्शनिकों के विचारों को प्रस्तुत करेगा, ऐसी आशा है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के विचारकों का इतना विशद, परिपूर्ण, सुसम्बद्ध एवं प्रामाणिक वर्णन हिन्दी के किसी अन्य ग्रन्थ में दिखाई नहीं देता। इस दृष्टि से हिन्दी वाङ्मय में पाश्चात्य दर्शन के इतिहास से सम्बन्धित पुस्तकों में समीक्ष्य पुस्तक अपने ढंग की एक अनूठी रचना है।

पाश्चात्य दर्शन का यह भाग डेकार्ट से प्रारम्भ होकर बर्गसां तक समाप्त होता है। "यह पश्चिमी दर्शन का वह युग है जिसमें दर्शन की मुख्य समस्याएँ, विशेषकर वे जो ज्ञान-मीमांसा से सम्बन्धित हैं, अपने उस विशिष्ट रूप को प्राप्त हुई जो आज भी उस प्रत्येक विचारक को, जो पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित है, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चिन्तन की विधा देती हैं। साधारणतः इस युग की विचारधारा को दो भागों में विभक्त किया जाता है, एक वह जो ब्रिटिश अनुभववाद के नाम से विख्यात है और दूसरी वह जो यूरोपीय बुद्धिवाद के नाम से जानी जाती है। भूगोल के हिसाब से यह नामकरण कितना ही अटपटा क्यों न हो, फिर भी यह उस सत्य की ओर ध्यान दिलाता है जिसके अनुसार ब्रिटेन ने अपने को कभी यूरोप का अंग नहीं माना और इसी प्रकार यूरोपीय देशों ने भी उसको अपने से अलग ही समझा।"

पुस्तक का वैशिष्ट्य

पुस्तक पन्द्रह अध्यायों में विभाजित है। इसमें इस युग की प्रत्येक दार्शनिक परम्परा के मूर्धन्य दार्शनिक चिन्तकों पर स्वतन्त्र रूप से लेख लिखे गए हैं। इन लेखों की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं: प्रथम यह कि अधिकतर लेखकों ने अपने लेखों को पश्चिमी दर्शन के इतिहास की पुस्तकों पर आधारित न करके उस दार्शनिक के मूल ग्रन्थों के आधार पर ही अपने लेख लिखने की चेष्टा की है। केवल दर्शन के इतिहास पर आधारित पुस्तक हमें विषय में उतनी

गति प्रदान नहीं कर पाती जितनी गति हमें मूल ग्रन्थों के अवलोकन से प्राप्त होती है। जब किसी दार्शनिक के मूल ग्रन्थों का अवलोकन होता है तब ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में जो पहले समझाई गई बातें थीं वे ठीक नहीं थीं। दार्शनिक का विचार उससे अधिक गहरा और संश्लिष्ट प्रतीत होता है जितना कि दर्शन का इतिहास उसे बताता है। इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि इसके लेखकों ने अपने लेख केवल मूल ग्रन्थों के आधार पर ही नहीं लिखे हैं वरन् उनके विषय में नए प्रश्न भी उठाए हैं और नई दृष्टि भी प्रदान की है। काण्ट पर शल्य जी का लेख इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी ने स्पिनोज़ा के दर्शन को अद्वैतवादी दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा की है। पुस्तक के विषय में एक तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि इसमें विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न दार्शनिकों पर स्वतन्त्र लेख प्रस्तुत किए गए हैं पर इससे पुस्तक के तारतम्य में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं होता। इसके विभिन्न लेखों के बीच तारतम्य स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य विद्वान सम्पादक द्वारा प्रस्तुत "विहंगम दृष्टि" ने किया है जो वास्तव में पुस्तक को समग्रता प्रदान करती है।

एक विहंगम दृष्टि

प्रो. दयाकृष्ण ने पश्चिमी दर्शन के आधुनिक इतिहास पर स्वयं एक विहंगम पर समग्र दृष्टि डालने की चेष्टा की है जिसमें उन उपलब्धियों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है जो उनके अनुसार इस की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। उनका मत है कि आधुनिक पाश्चात्य दर्शन उस नई दृष्टि से प्रारम्भ होता है जिसने ज्ञान को देखने की दिशा में एक नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न किया। यह दृष्टि गेलिलियो और बेकन द्वारा उद्भावित हुई है। इसमें केवल इन्द्रियानुभूति को ही ज्ञान का आधार माना गया वरन् ज्ञान की खोज के लिए एक ऐसी विधि पर भी ज़ोर दिया गया जो मनुष्य के किसी विषय के बारे में परिकल्पित ज्ञान की परीक्षा कर सके। "इस प्रकार इन्द्रियानुभूति ज्ञान का स्रोत न होकर केवल एक कसौटी ही सिद्ध हुई।" आधुनिक युग की दूसरी विशेषता परम्परा और प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह है। ईसाई धर्म के प्रभुत्व के स्थापित होने के बाद सत्य के विषय में निश्चित हो चुका था कि जो कुछ बाइबिल में है वह ही सत्य है और उस पर सन्देह करना पाप है। जो स्वयं ईश्वर की वाणी है वह ग़लत कैसे हो सकती है? इस सन्दर्भ में डेकार्ट अवश्य ही आधुनिक युग के प्रतीक हैं क्योंकि उन्होंने अपनी सार्वभौम सन्देह-पद्धति द्वारा उन सभी वस्तुओं पर सन्देह प्रकट किया जो सन्देह के विषय हो सकती हैं। सामान्य विश्वास की तो बात ही छोड़िए, प्रत्यक्ष जगत् की वस्तुओं पर भी सन्देह प्रकट किया जा सकता है। पर इतना होते हुए भी कम से कम एक वस्तु अवश्य है जिस पर सन्देह नहीं किया जा सकता और वह है सन्देह की प्रक्रिया, क्योंकि "सन्देह पर सन्देह करना उस सन्देह की पुनरावृत्ति मात्र है।" यदि सन्देह की प्रक्रिया है तो सन्देह-कर्त्ता अवश्य होगा क्योंकि कोई क्रिया या विचार स्वयं में अस्तित्वमान् नहीं हो सकता। इसी तथ्य को डेकार्ट ने अपने सुप्रसिद्ध सूत्र "मैं सोचता हूं अतः मैं हूं" द्वारा स्पष्ट किया है।

प्रो. दयाकृष्ण ने डेकार्ट के दर्शन के सम्बन्ध में जो दूसरी महत्त्वपूर्ण बात लिखी है वह यह है कि सत्य के मानदण्ड के विषय में जो ऊपर कहा गया है वह सत्य के उस मानदण्ड से भिन्न है जो यह कहता है कि अनिवार्य सत्य वही है जिसका निषेध होता है। डेकार्ट का निषेध तार्किक निषेध न होकर तात्त्विक निषेध है। यह निषेध आत्मव्याघाती नहीं है क्योंकि

यहां निषेध आत्म-व्याघाती नहीं है क्योंकि यहां निषेध की असंभाव्यता आत्मा के चित् स्वरूप पर आधारित है। कहने का तात्पर्य यह है कि "चेतना स्वयं अपना निषेध करने में समर्थ नहीं है।"

प्रो. दयाकृष्ण ने डेकार्ट की आत्मा के विषय में एक तीसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही है जिसकी ओर अभी तक शायद ही किसी का ध्यान गया हो, और वह है : आत्मा के ऊपर भी "औण्टोलॉजिकल आग्यू्मेण्ट" का प्रयोग करना। जिस प्रकार ईश्वर का विचार मात्र उसकी सत्ता को सिद्ध करता है उसी प्रकार आत्मा के विचार-मात्र से ही उसको सत्ता प्रकट हो जाती है। दोनों के बीच भेद केवल इतना है कि आत्मा की सत्ता की अनुभूति होती है, जबकि ईश्वर साधारण अर्थ में अनुभूति का विषय नहीं है, वह केवल विचार का विषय है। डेकार्ट के आत्मा विषयक विचार की अपूर्णता को प्रकट करने के लिए विद्वान सम्पादक ने कहा है कि आत्मा अपूर्ण कभी नहीं हो सकती जैसा डेकार्ट ने सोचा था। आत्मा के अपूर्ण होने का अर्थ है : चैतन्य के ऊपर विस्तार गुण को आरोपित करना, जो सम्भव नहीं है। भारतीय दर्शन में आत्मा का अर्थ ही है व्यापक होना, अविद्या के कारण भले ही वह अपूर्ण प्रतीत हो पर वास्तव में आत्मा पूर्ण ही है। विद्वान सम्पादक ने इस सन्दर्भ में "अपूर्णता" और "परिसीमन" के बीच एक महत्त्वपूर्ण भेद किया है। पूर्णता या अपूर्णता एक मूल्यात्मक विधेय है जबकि सीमित होना एक परिमाणात्मक विधेय है। संसार की सभी वस्तुओं के सन्दर्भ में परिमाण की बात करना समीचीन नहीं हो सकता।

साधारणतया ऐसा समझा जाता है कि लाइब्नित्ज़ एवं बर्कले दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। पर प्रो. दयाकृष्ण के अनुसार बात ऐसी नहीं है। दोनों ही स्वीकार करते हैं कि चेतना में ही क्रिया शक्ति है और चेतना ही क्रिया शक्ति से जो विचार उत्पन्न करती है उसको ही वह विषय रूप में ग्रहण करती है, अतः वास्तव में चेतना से स्वतन्त्र जड़ वस्तु का कोई अस्तित्त्व नहीं है। लाइब्नित्ज़ ने कहा "चिदणुओं एवं उनके प्रतिनिधानों के अतिरिक्त संसार में किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है।" यही बात बर्कले ने कही, "आत्माओं एवं उनके विज्ञानों के अतिरिक्त संसार में किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है।"

अनुभववादी दार्शनिकों पर विचार प्रकट करते हुए प्रो. दयाकृष्ण ने लॉक एवं बर्कले के सम्बन्ध में एक बहुत ही मौलिक बात लिखी है और वह यह है कि अनुभववादी दार्शनिकों ने प्राथमिक (मूल) एवं द्वितीयक (व्युत्पन्न) गुणों की बात तो अवश्य कही पर तृतीयक गुणों अर्थात् मूल्यों की कुछ भी चर्चा नहीं की। हम सभी जानते हैं कि मूल्यों की सृष्टि द्वितीयक गुणों के आधार पर ही की जाती है। कला का सृजन रूप, रंग, शब्द के द्वारा ही किया जाता है। जिनका कारण-रूप में प्रयोग किया जा सकता है उन्हें स्वतन्त्र रूप में सत् तो मानना ही होगा। बर्कले के विषय में उन्होंने जो एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह यह है कि यदि केवल संवेध ही सत् हैं तो मनुष्य और पशु के ज्ञान में क्या भेद रह जायगा? अमूर्त प्रत्ययों के निषेध के कारण अनुमानगत ज्ञान की सत्ता भी खटाई में पड़ जायेगी। ह्यूम के विषय में विद्वान सम्पादक ने टिप्पणी की है कि यदि जो कुछ है, वह अनुभूत सत् है तब शरीर और इन्द्रियों का ज्ञान हमें कैसे होता है और मन या आत्मा का कैसे? रसल ने इस कमी को पूरा करने के लिए

अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त तटस्थ अद्वैतवाद (न्यूट्रल मोनिज़्म) का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार मूल में जो सत् है वह केवल एक सद्यः अनुभूत संवेदों का ऐसा प्रवाह है जो न जड़ है, न चेतन, वरन् दोनों से तटस्थ है, परन्तु जिससे एक ओर जगत् की विकल्पात्मक रचना होती है और दूसरी ओर आत्मा की।

काण्ट के विषय में जो विशेष ध्यान देने योग्य बात है वह यह है कि उसने दर्शन में एक ऐसी तार्किक विधि का उद्घाटन किया जो सर्वथा नवीन थी। उसकी प्रमुख बात यह है कि जो वस्तु विषय-रूप नहीं है उसे यदि हम विषय-रूप में समझने की चेष्टा करते हैं तो हमारे चिन्तन में ऐसे परस्पर प्रतिषेधक (एंटीनोमीज़्) अवश्य उत्पन्न होंगे जो पृथक्-पृथक् तार्किक रूप से सही प्रतीत होंगे। दर्शन में काण्ट की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन ज्यामिति और गणित के ज्ञान से सम्बन्धित है। ज्यामिति एवं गणित की प्रतिज्ञप्तियों में अनिवार्यता और सार्वभौमता के साथ सत्यता क्यों पायी जाती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए काण्ट ने कहा कि देश और काल विषय-रूप न होकर इन्द्रियानुभव के ऐसे प्रागनुभविक आकार हैं जिनके बिना इन्द्रियानुभव असम्भव है। इसीलिए देश और काल में जो गुण अन्तर्निहित होंगे वे इन्द्रियानुभव के विषयों में अवश्य अभिव्यक्त होंगे। यही बात ज्ञान की बारह कोटियों पर भी लागू होती है। दर्शन की सारी समस्याएँ इसीलिए उत्पन्न होती हैं कि हम कोटियों को विचार की कोटियां न मानकर सत्ता की कोटियां मान लेते हैं।

अन्त में विद्वान सम्पादक ने अपनी बातों का समाहार करते हुए लिखा है कि "यदि ज्ञान की ऐतिहासिकता को ध्यान में रखें तो यह निश्चय ही सत्य प्रतीत होगा कि काल के किसी भी एक बिन्दु पर जिसे ज्ञान की संज्ञा दी जाती है वह अनिवार्यतः अपूर्ण होने के साथ-साथ ऐसे अंशों को भी अपने में सम्मिलित करता है जिनके असत्य होने की गहरी आशंका है। और चूंकि काल कभी समाप्त नहीं होता इसलिए ज्ञान हमेशा ही असंपूर्ण और अंशतः असत् होगा। परन्तु जो सत् स्वयं में है उसे तो इन लक्षणों से बाधित नहीं माना जा सकता और इसलिए न उसमें कोई असत् का अंश है और न उसकी संपूर्णता में कोई कमी।"

पुस्तक की समीक्षा

पुस्तक पन्द्रह अध्यायों में विभाजित है। इन सभी अध्यायों की समीक्षा करना न तो सम्भव है और न वाञ्छनीय। मैंने समीक्षा के लिए केवल पांच दार्शनिकों का चयन किया है: स्पिनोज़ा, ह्यूम, काण्ट, हेगल और ब्रैडले। डॉ. त्रिपाठी ने स्पिनोज़ा के दर्शन की व्याख्या अद्वैत वेदान्त की शब्दावली में करने की चेष्टा की है। स्पिनोज़ा के अनुसार धर्म एवं दर्शन एक दूसरे से बिलकुल पृथक् हैं। धर्म की स्थापना श्रुति के आधार पर की जाती है पर दर्शन की स्थापना बुद्धि द्वारा की जाती है। स्पिनोज़ा के दर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है जीवन और दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध। सुकरात के समान उन्होंने भी धर्माचरण को दार्शनिक ज्ञान की पूर्वापेक्षा कहा। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम आचारशास्त्र (एथिक्स) रखा। स्पिनोज़ा के दर्शन की तीसरी महत्त्वपूर्ण बात उनके द्वारा द्रव्य के दो लक्षणों के बीच भेद है। प्रथम स्वरूपलक्षण (प्रॉपर्टीज़्) और द्वितीय तटस्थलक्षण (एट्रीब्यूट्स) या विशेषण। किन्तु इन पर विचार करने के पूर्व हम उनके द्रव्य (सब्स्टेंस) के सिद्धान्त पर विचार करेंगे।

डॉ. त्रिपाठी ने द्रव्य के सम्बन्ध में तीन प्रश्न उठाए हैं: बुद्धि और इच्छा का सम्बन्ध,

संभाव्य और वास्तविक का सम्बन्ध, और तीसरा सृष्टि की सप्रयोजनता का प्रश्न। द्रव्य में बुद्धि और इच्छा का द्वैत नहीं हो सकता। बुद्धि का कार्य ज्ञात से अज्ञात की ओर संक्रमण है, पर पूर्ण द्रव्य के लिए कुछ भी अज्ञात नहीं है। इच्छा द्वारा हम किसी ऐसी वस्तु की कल्पना करते हैं जो हमारे लिए अप्राप्य है। पर पूर्ण और अनन्त द्रव्य 'आप्तकाम' है। अतः उसके भीतर इच्छा भी नहीं हो सकती। ईश्वर ने वह सब कुछ किया जो वह कर सकता था। अतः उसके भीतर संभाव्य और वास्तविक का भी भेद नहीं है। ईश्वर विकल्प नहीं करता और न विकल्पों को तोलता ही है— मंगलमय सर्वज्ञ को इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इसी कारण उसमें इच्छा-स्वातन्त्र्य भी नहीं है। ईश्वर में इच्छा-स्वातन्त्र्य न होने का अर्थ है: सृष्टि की अप्रयोजनात्मकता। यदि हम सृष्टि का कोई प्रयोजन मानते हैं तो हमको प्रयोजन का एक मापदण्ड मानना पड़ेगा जो ईश्वर से स्वतन्त्र होगा। पर इससे ईश्वर की पूर्णता में व्याघात होगा। सृष्टि को सप्रयोजन कहना अपनी भावनाओं को ईश्वर पर आरोपित करना है।

स्पिनोज़ा के दर्शन का सबसे अधिक विवादास्पद पक्ष द्रव्य के विशेषणों से सम्बन्धित है। एक ओर वे द्रव्य को निर्विशिष्ट कहते हैं तो दूसरी ओर द्रव्य के अनन्त विशेषणों की बात करते हैं। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि विशेषण द्रव्य के वास्तविक धर्म हैं अथवा आरोपित धर्म। डॉ. त्रिपाठी का कथन है कि विशेषण द्रव्य के आरोपित धर्म हैं क्योंकि ऐसा न मानने पर हम द्रव्य की निर्विशिष्टता को अक्षुण्ण नहीं रख सकते। पुनः वे कहते हैं कि "स्पिनोज़ा ने कहीं कहीं ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है कि जान पड़ता है जैसे विशेषण वास्तविक हैं: जैसे विचारवान् द्रव्य, शरीरवान् द्रव्य" (पृ. ९७)। 'डॉ. त्रिपाठी' ने दोनों परस्पर विरोधी विचारों की यहां गणनामात्र की है, उनके विषय में कोई आधिकारिक टिप्पणी नहीं प्रस्तुत की है। मेरे विचार से स्पिनोज़ा के दर्शन की वस्तुवादी व्याख्या, उसकी विज्ञानवादी व्याख्या की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है। विज्ञानवादी व्याख्या सत्य इसलिए नहीं कही जा सकती क्योंकि उन्होंने विचार और विस्तार दोनों को द्रव्य के समानान्तर गुणों के रूप में लिया है। विचार और विस्तार की समानान्तरता वस्तुवादी व्याख्या को ही पुष्ट करती है। दूसरी बात जो मैं यहां स्पष्ट करना चाहता हूँ वह यह है कि विशेषणों की दृष्टि से तो स्पिनोज़ा का दर्शन वस्तुवादी है पर द्रव्य की दृष्टि से वह न तो वस्तुवादी है न विज्ञानवादी, वरन् निर्विशेषवादी है।

प्रो. राजेन्द्रप्रसाद ने ह्यूम के दर्शन पर एक बहुत ही विद्वत्तापूर्ण अध्याय जोड़ा है। उनके अनुसार ह्यूम ने "एक सुचिंतित, मौलिक दर्शन दिया है, न कि लॉक-बर्कले के मतों में निहित या छिपे निष्कर्षों का स्पष्टीकरण मात्र।" आगे वे लिखते हैं कि "अनुभूत के प्रति न तो उसके अन्दर कोई ममता थी और न अनुभूत तथ्य को स्वीकार करने के विरुद्ध कोई अनिच्छा।" उनके अनुसार ह्यूम के दार्शनिक चिंतन का लक्ष्य केवल खण्डनात्मक नहीं है। वस्तुतः उसका लक्ष्य बोध-शक्ति की क्षमता और सीमा का अन्वेषण कर मानव-ज्ञान की आधारभूमि की विवेचना करना है। ह्यूम अपने दर्शन को **मानसिक भूगोल** की संज्ञा देता है क्योंकि मन की, बोध-शक्ति की, क्षमताओं और अक्षमताओं का ठीक-ठीक वर्णन-विश्लेषण उसका लक्ष्य है। ह्यूम ने अपने दार्शनिक अन्वेषण को मानव-विज्ञान के नाम से भी अभिहित किया है। मानव-विज्ञान से उसका तात्पर्य ऐसे विज्ञान से है जिसका ज्ञान सभी विशिष्ट वैज्ञानिक अन्वेषणों के

ठीक-ठीक संचालन के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार बोध-शक्ति के स्वरूप की परीक्षा में प्रयुक्त अपनी पद्धति को वह प्रायोगिक पद्धति कहता है। वह कहता है कि मानव-प्रकृति के विषय में सावधानी से किये गए निरीक्षण और प्रयोगों पर ही उसके विषय में प्रामाणिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

डॉ. प्रसाद ने ह्यूम की ज्ञान-मीमांसा के सम्बन्ध में हमारे समक्ष कुछ नवीन बातें रखी हैं। उनके अनुसार अनुभववाद के दो प्रकार हैं: प्रत्यय-अनुभववाद और प्रतिज्ञप्ति-अनुभववाद। पहला प्रत्ययों की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्त है और दूसरा प्रतिज्ञप्तियों के सत्यापन से सम्बन्धित। **प्रत्यय-अनुभववाद** मानता है कि हमारे सभी मूल प्रत्यय अनुभव से प्राप्त होते हैं। **प्रतिज्ञप्ति अनुभववाद** मानता है कि कम से कम कुछ प्रतिज्ञाप्तियाँ ऐसी हैं कि उनकी सत्यता-असत्यता का निर्णय अनुभव द्वारा ही हो सकता है: "मेरे दांत में दर्द है', 'हिन्दू समाज रूढ़िवादी है' इत्यादि प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता या असत्यता का निर्धारण अनुभव के आधार पर ही किया जा सकता है। पुन: उन्होंने मनोवैज्ञानिक अनुभववाद एवं तार्किक अनुभववाद के बीच भेद को स्पष्ट किया है। **मनोवैज्ञानिक अनुभववाद** की मान्यता है कि हमारे ज्ञान का आरम्भ अनुभव से होता है। इसके विपरीत, प्रत्ययों या पदों के अर्थ को अनुभव से अनिवार्यत: सम्बद्ध करना तार्किक अनुभववाद है। प्रो० प्रसाद के अनुसार लॉक, बर्कले और ह्यूम इन तीनों का अनुभववाद मनोवैज्ञानिक है किन्तु ह्यूम के दर्शन में तार्किक अनुभववाद भी पाया जाता है। पर मेरी समझ में ह्यूम के अनुभववाद को आधे मन से ही तार्किक अनुभववाद की संज्ञा दी जा सकती है। यह ठीक है कि ह्यूम ने हमारे प्रत्ययों एवं पदों को अनुभवों से सम्बद्ध कर उनकी सार्थकता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है पर रसल व व्हाइटहेड के समान उसने किसी ऐसी तार्किक या गणितीय प्रणाली का आविष्कार नहीं किया था जिसके द्वारा वह प्रत्ययों और पदों को अनुभव की कोटियों में घटित कर सके। अत: ह्यूम के अनुभव-वाद को तार्किक अनुभववाद कहना केवल शिष्टाचार ही कहा जा सकता है।

ह्यूम के दर्शन में उसका कारणता का सिद्धान्त पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। कार्य-कारण सम्बन्ध ही एक ऐसा सम्बन्ध है जिसके आधार पर अनुभूत ज्ञान से अननुभूत घटना के विषय में विश्वसनीय अनुमान कर सकते हैं। डेकार्ट, स्पिनोज़ा इत्यादि दार्शनिकों ने कार्य-कारण सम्बन्ध को एक अनिवार्य सम्बन्ध माना था। पर अनुभववादी होने के कारण ह्यूम कार्य-कारण के बीच केवल सम्भाव्य सम्बन्ध मानता है। यहाँ ह्यूम ने सामान्य कार्य-कारण-सम्बन्ध एवं विशिष्ट कार्य-कारण-सम्बन्ध में भेद किया है। यह कहना कि "हर कार्य का कोई कारण होता है" आनुभविक प्रतिज्ञप्ति नहीं है। यह एक प्रागनुभविक सत्य है क्योंकि कार्य के प्रत्यय में ही यह निहित होता है कि उसका कोई कारण होगा। किन्तु इसमें कोई अनिवार्यता नहीं है कि अमुक कारण से अमुक कार्य ही होगा, क्योंकि यह बुद्धि-जन्य न होकर अनुभवजन्य ही है।

शल्य जी ने जो काण्ट का दर्शन प्रस्तुत किया है वह पर्याप्त मौलिक और विवेचना-पूर्ण है। पर उनकी भाषा काफी दुरूह और शैली क्लिष्ट है जिसके कारण उनके विचारों को समझने में पर्याप्त कठिनाई होती है। पारिभाषिक शब्दावली भी स्वच्छन्द व अपरम्परागत है। उन्होंने प्रारम्भ में ही हमें सचेत कर दिया है कि "किसी दार्शनिक के विचार प्रस्तुत करने

की दो विधियां हो सकती हैं: एक तो यथासम्भव उसी की पदावली में उसकी बात सारांश में या व्याख्या-टीका के साथ फिर से कह देना और दूसरी उसके साथ विचार-विमर्श में भाग लेना, अथवा अधिक ठीक शब्दों में, उस विचार का पुनः अवगाहन करना जिसका उसने अवगाहन किया है।" शल्य जी ने काण्ट के दर्शन में इसी दूसरी सृजनात्मक विधि का प्रयोग किया है।

शल्यजी के अनुसार काण्ट के दर्शन का प्रमुख प्रश्न गोचर जगत् के ज्ञान के स्वरूप का है। "**उसके अनुसार ज्ञान वस्तुतन्त्र नहीं होकर मनस्तंत्र है**: क्योंकि उसके अनुसार ज्ञान के मनस्तंत्र होने के कारण ही यह सम्भव है कि हम विषय-जगत् को नियम और व्यवस्था के अन्तर्गत देखते हैं।" वास्तविक ज्ञान तो वस्तुतंत्र ही होगा पर गोचर जगत् का ज्ञान वस्तुतंत्र न होकर मनस्तंत्र ही है वस्तुसत् का ज्ञान न इन्द्रियों से, न बुद्धि से, न प्रज्ञा से बल्कि नैतिक कर्म द्वारा ही सम्भव है।

आगे विद्वान लेखक ने काण्ट के देश, काल के प्रत्यय में एक परस्पर विरोधी बात की ओर संकेत किया है। एक ओर वह देश और काल को परस्पर निरपेक्ष मानता है और दूसरी ओर कहता है कि काल की अवधारणा देश के बिना नहीं की जा सकती (पृ. २६४) इसी प्रकार वर्गणाओं को सत्ता की वर्गणाएँ न मानकर वह जगदभाव की वर्गणाएँ मानता है। वर्गणाएँ विषय की अतिक्रामी सर्जक हैं। वे ज्ञान के रचनात्मक तत्त्व हैं। संवेदों एवं वर्गणाओं के साथ काण्ट के दर्शन में एक अतिक्रामी प्रज्ञा रहती है जो विषय-व्यवस्था का निर्देशन करती है। यहाँ शल्यजी ने प्रज्ञा की जगह अतिक्रामी बुद्धि (पृ. २६६) का प्रयोग किया है जो खटकने वाली बात है। संवेदों, वर्गणाओं एवं प्रत्ययों के संयोग से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह प्रातिभासिक ही होता है। किन्तु विषय की प्रातिभासिकता अविषय या अप्रातिभासिक सत् की ओर संकेत करती है यद्यपि वह उसे प्रदान नहीं कर सकती। कांट के अनुसार अप्रातिभासिक सत् प्रतिभास के लिए केवल नियामक प्रत्यय है। शल्यजी अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं "यदि सत् केवल व्यवस्थात्मक प्रत्यय मात्र ही हो और उसकी कोई अपनी अन्तर्वस्तु नहीं हो तो विषय की प्रातिभासिकता भी व्यवस्थात्मक प्रातिभासिकता ही हो जायगी और उसके अतिक्रमण का प्रयत्न केवल विषय को दूर से और परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न मात्र रह जायगा।" काण्ट चित् को स्वरूपतः विषयापेक्षी नहीं मानता है, वह इसे निर्विषय सत् मानता है और इसकी अपनी अन्तर्वस्तु भी मानता है जिसका अवगमन हमें नैतिक कर्म में होता है।

डॉ. भटनागर का हेगल के ऊपर लेख पर्याप्त गवेषणापूर्ण है। उनके अनुसार किसी दार्शनिक के परिचय के लिए "जहाँ एक ओर दर्शन की सूझ की आवश्यकता है वहाँ दूसरी ओर इतिहास-बोध की भी", इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं; "जहाँ तक इतिहास-बोध का प्रश्न है, वहां घटना-क्रम की दृष्टि से कारणता की अवधारणा प्रमुख होती है। इसके विपरीत, जहाँ विचार-क्रम का प्रश्न है वहाँ कारणता से अधिक अवधारणात्मक तथा तार्किक सम्बन्ध अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं" (पृ. ३२८)। डॉ. भटनागर के लेख में कारणता की अपेक्षा तार्किक सम्बन्धों की विशेष व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उन्होंने अपने लेख में यह तो लिखा कि हेगल के दर्शन में ज्ञान और सत् एक हैं पर ऐसा क्यों है, इसका कहीं भी निदर्शन नहीं किया। इसी प्रकार हेगल ने तर्कशास्त्र एवं तत्त्वविज्ञान के बीच तारतम्य स्थापित

किया, पर यह क्योंकर सम्भव हुआ, इसका निदर्शन भी ठीक प्रकार नहीं किया गया है। डॉ. भटनागर ने हेगल के द्वन्द्व-न्याय (डायलेक्टिक्स) की अच्छी व्याख्या प्रस्तुत की है, उन्होंने पक्ष, विपक्ष एवं सपक्ष की न केवल सैद्धान्तिक व्याख्या की है बल्कि उनके व्यावहारिक प्रयोग की सम्भावना का भी उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि इन तीनों अवस्थाओं के अनुक्रम के रूप में द्वन्द्व-न्याय की प्रक्रिया की गत्यात्मकता का आधार वह निषेधात्मकता है जो चित् के सत् का मर्म है "चित् मृत्यु से बचने का प्रयास नहीं करता न ही वह विध्वंस से बचकर चलता है, मृत्यु उसका जीवन है और उसी में वह अपने को बनाए रखता है।" "निषेध जितना अस्वीकार है उतना ही स्वीकार भी है।" हेगल का मत है कि सपक्ष अथवा संश्लेषण की कोटि में जिसका निषेध हुआ है, उसका भी समावेश होता है परन्तु रूपान्तरित अवस्था में।

काण्ट एवं हेगल की विचार-कोटियों में अन्तर स्पष्ट करते हुए विद्वान लेखक ने लिखा है कि काण्ट के दर्शन की विचार-कोटियाँ मनुष्य एवं तत्त्व के बीच एक दीवार के रूप में खड़ी हो जाती हैं जिसके कारण वस्तु के स्वरूप को जानने की कोई सम्भावना शेष नहीं रहती। इसके विपरीत हेगल ने अपने प्रत्ययात्मक दर्शन द्वारा यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि किस प्रकार वस्तु का तत्त्व तथा विचार का तत्त्व परस्पर अभिन्न हो सकता है। हेगल का यह निश्चित मत है कि आकार और अन्तर्वस्तु को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। "अन्तर्वस्तु आकारहीन नहीं होती और आकार वस्तु-शून्य नहीं होता।" उनके अनुसार तर्क-विज्ञान चित्-निरूपकों की पुनः रचना है।

पर चित्-निरूपकों की पुनर्रचना किस प्रकार सम्भव होती है, इस पर कहीं प्रकाश नहीं डाला गया है। डॉ भटनागर ने लिखा है कि यह मानना गलत होगा कि हेगल ने विचार से वस्तु को निगमित करने का प्रयास किया है। इसके विपरीत उसने प्रत्यय के विचार से प्रकृति के विचार को निगमित किया है। इस सम्बन्ध में वे निम्न उद्धरण प्रस्तुत करते हैं: "वास्तविक संक्रमण शुद्ध सामान्यों के सामान्य क्षेत्र से "ऐन्द्रिक सामान्यों के सामान्य क्षेत्र की ओर होता है।" (पृ. ३५८) जब प्रकृति प्रत्यय का प्रतिपक्ष है तो प्रकृति की अवधारणा अयौक्तिक ही हो सकती है। वास्तव में प्रत्यय और प्रकृति एक ही स्तर की अवधारणाएँ नहीं हो सकतीं। अन्त में तर्क, प्रकृति एवं परम चित् के पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन करते हुए वे अपने लेख का समाहार प्रस्तुत करते हैं "तर्क तथा प्रकृति दोनों ही परम चित् के विधेय के रूप में देखे जा सकते हैं। इस दृष्टि से जब परम चित् को मात्र आकार की दृष्टि से देखते हैं तब वह तर्क के रूप में प्रकट होता है तथा जब उसे उस वैविध्य के रूप में देखते हैं जिसमें उसका विषयत्व व्यक्त होता है तो उसे प्रकृति कहते हैं। क्योंकि परम चित् सदैव है, अतः उसके अन्य पक्ष भी सदैव हैं।" पुनः वे तर्क, प्रकृति एवं परम चित् के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए लिखते हैं: तर्क के रूप वह स्वयं अपने में हैं, प्रकृति के रूप में वह स्वयं अपने लिए है, तथा अपने वास्तविक रूप में वह अपने में तथा अपने लिए दोनों ही है। यहां तर्क और प्रकृति को परम चित् के आंगिक विधेय के रूप में लिया गया है।

हेगल का दर्शन तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक कि उसकी 'राज्य' की अवधारणा का उल्लेख न किया जाय। राज्य विषय-चैतन्य की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। व्यक्ति के अधिकार, स्वतन्त्रता तथा व्यक्तित्व राज्य में नष्ट नहीं होते अपितु उसमें सुरक्षित रहते हैं।

पर कर्मक्षेत्र की सर्वोच्च उपलब्धि तथा चित् का एक पक्ष होने के कारण राज्य दिव्य अथवा ईश्वर का रूप होते हुए भी इतिहास के निर्णय से परे नहीं है। राज्य का अन्तिम चरण 'विश्व इतिहास' है जिसे हेगल ने चार भागों में विभाजित किया है: १. पौर्वात्य (चीन, भारत इत्यादि) २. यूनानी जगत्, ६. रोमन, ईसाई मत का उद्भव और, ४. जर्मन जगत्। उसने इन चारों भागों का विशद विवेचन भी प्रस्तुत किया है। प्रथम अवस्था में इस चेतना का उदय नहीं हुआ था कि मनुष्य स्वतन्त्र है। केवल निरंकुश शासक को ही स्वतन्त्र समझा जाता था। अतः एक ही व्यक्ति स्वतन्त्र था, शेष परतन्त्र थे। परन्तु यदि एक व्यक्ति स्वतन्त्र है तो वह वस्तुतः स्वतन्त्र नहीं हो सकता। आगे यूनानी तथा रोमन जगत् में स्वतन्त्रता की चेतना का बोध उदित तो होता है परन्तु सबके लिए नहीं। ईसाई मत का उदय इस चेतना को उपयुक्त रूप में मुखर करता है कि मनुष्य स्वतन्त्र है। यह बोध पूरी तरह जर्मन जगत् में ही चरम पर पहुँचता है। स्वतन्त्रता के बोध की लम्बी कहानी ही विश्व इतिहास की अन्तर्कथा है।

डॉ. सुशील कुमार सक्सेना द्वारा प्रस्तुत ब्रैड्ले के दर्शन को पढ़कर पर्याप्त निराशा हुई। यद्यपि उन्होंने ब्रैड्ले के दर्शन के सभी पक्षों-तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, तत्त्वमीमांसा इत्यादि का वर्णन किया है पर वे सभी इतने संक्षिप्त, अपूर्ण और असम्बद्ध हैं कि उनसे ब्रैड्ले जैसे दार्शनिक के विचारों को आत्मसात् करने में कठिनाई होती है। उसके समस्त दार्शनिक विचारों की मूलभूत अन्तर्दृष्टि के विषय में डॉ. सक्सेना ने लिखा है: "चिन्तन और व्यवहार दोनों ही में समग्रता हमें अभीष्ट है। जो समग्र न होकर आंशिक है वह व्याघातग्रस्त है, और इस कारण उसे न तो हम विचारात्मक दृष्टिकोण से परम सत्य की संज्ञा दे सकते हैं और न ही इससे जीवन में हमें संतुष्टि होती है।" (पृ. ४३५)

ब्रैड्ले के तर्कशास्त्र पर उन्होंने लिखा है कि तर्कशास्त्र के तीनों मूल नियम; तादात्म्य नियम, व्याघात नियम एवं मध्यम-परिहार नियम केवल आकारपरक न होकर वस्तुपरक भी हैं। ब्रैड्ले के तर्कशास्त्र की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पद नहीं वरन् निर्णय ही चिन्तन की प्रारम्भिक इकाई है। इसी प्रकार विधेय सरल न होकर एक सम्बन्धात्मक संसृष्टि भी हो सकता है। वह व्यपदेश या तर्कवाक्य को उद्देश्य-विधेय तर्कक्य तक ही सीमित नहीं रखना चाहता। ब्रैड्ले के तर्कशास्त्र की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी निर्णय का उद्देश्य एक विशिष्ट सत्ता या अविभाजित सत्ता दोनों ही हो सकता है। इसी प्रकार फ्रेगे के समान ब्रैड्ले भी स्वीकार करता है कि किसी कथन के व्याकरणिक आकार व तार्किक आकार में भिन्नता हो सकती है।

नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में भी ब्रैड्ले के कुछ मौलिक विचार हैं। वह बेन्थम व मिल के सुखवाद तथा काण्ट के बुद्धिवाद दोनों की समीक्षा प्रस्तुत करता है। डॉ. सक्सेना के शब्दों में: "सुखवाद की भूल यह है कि वह सामान्य को सुख की विभिन्न अनुभूतियों का समूह मात्र मानता है और क्योंकि ऐसी कोई स्थिति स्थायी तो होती नहीं, इसलिए इस प्रकार के सामान्य का कोई वास्तविक प्रभुत्व नहीं हो सकता। इसके विपरीत काण्ट की त्रुटि यह है कि वह सामान्य को एक ऐसा आकार मात्र समझता है जिसमें विशेष को कोई स्थान ही नहीं।" (पृ. ४३६) ये दोनों मत इस सत्य की अवहेलना करते हैं: "नैतिकता एक मूर्त सामान्य की सक्रिय अभिव्यक्ति है।" (पृ. ४३६) ब्रैड्ले के अनुसार सम्पूर्ण नैतिकता को दो पक्षों का तादात्म्य

मनाना चाहिए: बाह्य पक्ष का अर्थ है सामाजिक संस्थाएँ और पद्धतियाँ और आन्तरिक पक्ष का अर्थ है निजी नैतिकता, जिसका सार है: शुभ संकल्प से प्रेरित होने का अन्तर्बोध। ब्रैड्ले के "**मेरा पद और उसके कर्तव्य**" के सिद्धान्त का यही निहितार्थ है।

जहाँ तक ब्रैड्ले की तत्त्वमीमांसा का प्रश्न है, उसका लेख में अच्छा विवेचन किया गया है। कुक विल्सन एवं रसल ने जो उसकी तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध आक्षेप लगाए हैं उनका सही दिग्दर्शन कराया गया है।

पुस्तक में समीक्षा की अच्छाइयों के साथ कुछ त्रुटियां भी हैं। अधिकांश लेख वर्णनात्मक हैं। उनमें आलोचनात्मक दृष्टि का अभाव दिखाई देता है। छपाई की अशुद्धियाँ तो अनन्त हैं। लगता है कि लेखकों द्वारा प्रूफ-शोधन नहीं किया गया है। इसी प्रकार कुछ अध्यायों के बाद पुस्तकों की सूची दी गई है, पर अन्य अध्यायों के अन्त में पुस्तकों की सूची नहीं दी गई है। पर इन सभी त्रुटियों के बावजूद पुस्तक एक स्तुत्य प्रयास है।

दर्शन विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक-परिचय

इस अंक के जिन लेखकों का परिचय पिछले अंक में प्रकाशित हो चुका है उनका परिचय इस अंक में नहीं दिया जा रहा है। डा० हर्षनारायण तथा डा० जगदीशसहाय श्रीवास्तव का परिचय समय पर उपलब्ध नहीं हो पाने से हम यहां नहीं दे पा रहे हैं जिसके लिए खेद है। शेष के परिचय यहां दिये जा रहे हैं :

महेशकिशोर—जन्म अप्रैल १९२९, कोटा (राजस्थान)। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से १९५० में भौतिक विज्ञान में एम.एससी. उपाधि, १९५२ में भारतीय पुलिस - सेवा में प्रवेश। १९७८ में सी.बी. आई. (नई दिल्ली) के आई.जी. पद से स्वेच्छया सेवा-निवृत्त। अनन्तर लगभग तीन वर्ष हिमालय की कुमाऊं पर्वतमाला में एकान्तवास के अनन्तर १९८३ में कृष्ण-मूर्ति फाउंडेशन की भारतीय शाखा में स्थान-ग्रहण।

गोविन्दचन्द्र पांडे—जन्म १९२३, इलाहाबाद। १९५७ से १९८३ तक क्रमशः गोरखपुर, राजस्थान तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालयों में प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के प्रोफेसर, सिवाय १९७४–७७ के अन्तराय के, जब वे राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। १९८३ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कार्यवाहक कुलपति के रूप में सेवा-निवृत्त। संप्रति भारतीय इतिहासिक अनुसंधान परिषद् के राष्ट्रीय फैलो। पांडेजी के ५० से अधिक लेखों के अतिरिक्त निम्न ग्रंथ प्रकाशित: 1. स्टडीज़ इन दि ऑरिजिंज़ ऑफ बुद्धिज़्म; 2. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास; 3. मूल्यमीमांसा; 4. दि मीनिंग एंड प्रॉसेस आफ कल्चर; 5. भारतीय परम्परा के मूल स्वर; 6. फाउंडेशंस् ऑफ इंडियन कल्चर; 7. जैन पुलिटिकल थॉट; 8. क्षण और लक्षण; तथा 9. अग्नि-बीज (काव्य-संग्रह)

1. अपोहसिद्धि, 2. न्यायबिन्दु (अनुवाद और व्याख्या) 3. इतिहास: स्वरूप और सिद्धांत (संपादित)।

प्रेमलता शर्मा—जन्म १९५८, फरीदकोट (पंजाब), राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से **सांख्य-दर्शन में मनुष्य की अवधारणा** विषय पर पीएच.डी.

उन्मीलन के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबन्धित विवरण

फार्म ४ (नियम १८)

१. प्रकाशन-स्थान	—	पी-५१, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर—३०२०१५.
२. प्रकाशन-अवधि	—	षाण्मासिक
३. मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	—	यशदेव शल्य, पी-५१, मधुवन पश्चिम किसान मार्ग, टोंक रोड जयपुर—३०२०१५. भारतीय
४. प्रकाशक का नाम, पता, और राष्ट्रीयता	—	यशदेव शल्य, पी ५१, मधुवन पश्चिम टोंक रोड, जयपुर—३०२०१५. भारतीय
५. संपादक का नाम, पता, और राष्ट्रीयता	—	यशदेव शल्य, पी-५१, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर—३०२०१५. भारतीय
६. उन व्यक्तियों अथवा संस्थाओं—के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों.		दर्शन प्रतिष्ठान, पी-५१, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर—३०२०१५.

मैं, यशदेव शल्य, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है ।

यशदेव शल्य

उन्मीलन
वर्ष २, अंक २
जुलाई १९८६

विषय सूची

१	धार्मिक चेतना पर एक दार्शनिक दृष्टि–२	**राजेन्द्रप्रसाद पांडेय**	८५
२.	अभाव-संप्रत्यय की दार्शनिक संभावनाएं–२	**नारायण शास्त्री द्राविड़**	१०१
३.	जि. कृष्णमूर्ति	**महेशकिशोर**	१११
४.	जि. कृष्णमूर्ति : कुछ दार्शनिक जिज्ञासाएं	**यशदेव शल्य**	१२०
	विमर्श		
१.	"तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन, कुछ समस्याएं" पर एक टिप्पणी	**गोविन्दचन्द्र पांडे**	१२९
२.	सांख्य–वेदान्त वाद–विवाद : द्राविड़ जी के आक्षेपों का उत्तर	**प्रेमलता शर्मा**	१३३
३.	'मूल्य : विषय–सत्ता' पर एक टिप्पणी	**नारायण शास्त्री द्राविड़**	१४१
	पुस्तक समीक्षा		
१.	भारतीय परंपरा के मूल स्वर लेखक– गोविन्दचन्द्र पांडे	**हर्षनारायण**	१४४
२.	पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, खण्ड २ सं० दयाकृष्ण	**जगदीशसहाय श्रीवास्तव**	१५६
	लेखक-परिचय		१६६

वार्षिक शुल्क	व्यक्ति	२०.००
	संस्थाएं	४०.००
आजीवन शुल्क	व्यक्ति	२५०.००
	संस्थाएं	१५००.००

दर्शन-प्रतिष्ठान

पी-५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर-३०२०१५

मुद्रक – जेक प्रिंटर्स, किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर